विश्व की पहेली

ईश्वर - जीवात्मा - प्रकृति
त्रैतवाद

लेखक

पूर्णचन्द्र

बी.ए., एल-एल.बी. एडवोकेट

पूर्वप्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त-प्रान्त

1937

प्रकाशक

आर्य्य साहित्य मण्डल लि.

अजमेर

ओ३म्

विश्व की पहेली

ईश्वर–जीवात्मा–प्रकृति

त्रैतवाद

लेखक—

पूर्णचन्द्र

बी० ए०, एल-एल० बी० एडवोकेट

पूर्व प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त

प्रथम संस्करण } १९९४ { मूल्य १।।)

प्रकाशक—
आर्य्य-साहित्य-मण्डल लि०,
अजमेर।



मुद्रक—
बा० दुर्गाप्रसाद सुपरवाईजिंग डाइरेक्टर
भगवानदीन आर्य भास्कर प्रेस, आगरा।

❀ ओ३म् ❀

समर्पण

श्री पूज्य स्वर्गीय बा० हीरालालजी बी० ए०, एम० आर० ए० एस०, राजकवि, सब जज रियासत कोटा अपने ज्येष्ठ भ्राता के चरणों में सादर समर्पित। जिनके सम्पर्क से वैदिक धर्म का ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ।

माईथान, आगरा
२१-१२-३७

पूर्णचन्द्र, एडवोकेट

अनुक्रमणिका

ईश्वर विषय:—(१)

जीवात्मा

(२)

प्रकृति

(३)

भूमिका

मैं क्या हूँ ? हम क्या हैं ? ईश्वर क्या है ? और यह विश्व क्या है ? यह प्रश्न सृष्टि के आरम्भ काल से मनुष्यों के हृदय में उठते आये हैं और सारे वेद व शास्त्र इनके उत्तर से भरे हुये हैं। सारी साइंस और फिलासफी चाहे पूर्वीय हो या पश्चिमी इनके साधन में संलग्न रही है। ऐसी अवस्था में पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि मेरे ऐसे साधारण आदमी को ऐसे गम्भीर विषय पर क़लम उठाने का साहस कैसे हुआ और इसकी क्या आवश्यकता थी। इसकी तह में एक इतिहास है। श्रीमती आर्य्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त के आर्य्यसमाजों की एक शिरोमणि सभा है। इसकी स्थापना को ५० वर्ष हो चुके हैं। और इसकी स्वर्णजयन्ती का महोत्सव मेरठ नगर में माह दिसम्बर सन् ३७ में बड़े दिनों की छुट्टियों में होना निश्चय हुआ। इस महोत्सव को सफल बनाने के लिये मेरी बातचीत इस सभा के प्रमुख प्रधान श्री रायसाहब बा० मदनमोहन सेठ, सब जज से बदायूं में हुई। आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों में बहुधा ऐसा होता है कि एक ही दिन और उत्सव की एक ही बैठक में अनेक विद्वानों के भिन्न २ विषयों पर व्याख्यान होते हैं और उनमें से बहुत से व्याख्यानों का श्रोताओं के हृदय पर प्रभाव भी अच्छा पड़ता है परन्तु उत्सव समाप्त होते २ तक एक व्याख्यान दूसरे व्याख्यान के प्रभाव को मिटा सा देता है और अन्त में यह दशा होती है कि बहुत देर तक हिसाब लगाया परन्तु न कुछ हाथ लगा और न कुछ हासिल हुआ। इस कमी को दूर करने के लिये कुछ उपाय मैंने व श्री प्रधानजी ने निकालने चाहे। मैंने यह प्रस्ताव

किया कि महोत्सव पांच दिन तक इस प्रकार मनाया जावे कि प्रत्येक दिन एक ही नियत विषय पर भिन्न २ विद्वानों के पूर्व से निश्चित व्याख्यान हों और यह कार्य्य इस सन् १९३७ के आरम्भ से ही शुरू कर दिया जावे और श्री प्रधानजी ने मेरे इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया और पसन्द किया और इस व्याख्यान माला के प्रबन्ध का संयोजक मुझे ही नियत किया। मैंने उनकी आज्ञा से स्वर्णजयन्ती सर्कुलर नं० १ प्रकाशित की और निम्न लिखित विषयों पर निबन्ध लिखने व व्याख्यान तय्यार करने की याचना आर्यजगत के हर प्रान्त के प्रमुख विद्वानों से की। नं० १—ईश्वर विषय, नं० २—जीव विषय, नं० ३—प्रकृति विषय, नं० ४—सामाजिक संगठन, नं० ५—वेद विषय।

यह विषय मैंने इस अभिप्राय से निश्चित किये कि इनके अन्तर्गत सारे वैदिक सिद्धांत आजाते हैं और इन विषयों पर विचार करते या व्याख्यान देते समय प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों के साथ २ तत्सम्बन्धी पश्चिमी फिलासफी के विचारों पर भी प्रकाश डाला जा सकता है और तुलनात्मक विचार से श्रोताओं व पाठकों को बड़ा लाभ हो सकता है और स्वाध्याय में सहायता मिल सकती है। इन विषयों के अन्तर्गत जो उपविषय मैंने आवश्यक समझे वह भी इस सर्कुलर में अंकित कर दिये जिससे विचार करने वालों को सामग्री एकत्रित करने और विचारों की शृंखला स्थापित करने में सुविधा हो। पाठकों के लाभार्थ वह सर्कुलर इस पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित करा रहा हूँ क्योंकि यह सर्कुलर ही इस पुस्तक के निर्माण का मूल कारण है।

सर्कुलर प्रकाशित होने के पश्चात् मैंने अपना कर्त्तव्य पालन करना आरम्भ किया क्योंकि श्री प्रधानजी का आदेश था कि जो

निबन्ध सभा की ओर से उपरोक्त विषयों पर जनता के सन्मुख प्रस्तुत हों उनको मैं तय्यार करूं।

कार्य्य आरम्भ करते समय मेरा यह अनुमान था और मेरी इच्छा भी यह थी कि निबन्धों का आकार इतना हो कि वह एक घण्टे में पढ़ा जा सके परन्तु जब लिखने बैठा तो बहुत संक्षिप्त करते हुये भी निबन्धों का आकार एक लघु पुस्तक का होगया और मैंने यह अनुभव किया कि इतने लम्बे निबन्ध महोत्सव में नहीं पढ़े जा सकते और मुझे इनको पुस्तकाकार में छपवाने की चिन्ता हुई। मेरे निवेदन करने पर अन्य विद्वानों ने भी निबन्ध भेजने की कृपा की है और उन सब निबन्धों के छपवाने के प्रबन्ध पर स्वर्णजयन्ती समिति महोत्सव के पश्चात् विचार करेगी। नवम्बर मास के अन्त में श्री मथुराप्रसादजी शिवहरे संयोग से आगरा पधारे और मेरी उनसे इस पुस्तक के छपवाने के सम्बन्ध में बात चीत हुई और उन्होंने सहर्ष इसको छपवाना मंडल की ओर से स्वीकार किया। श्री मथुराप्रसादजी आर्य्य-साहित्य मंडल के संचालक हैं और उनका साहित्य-प्रेम प्रसिद्ध है उन्होंने अल्प समय होते हुये भी जो इस पुस्तक के छपवाने का प्रयत्न किया है मैं उनका आभारी हूँ। पुस्तक अति शीघ्रता से छप रही है, और मैं जानता हूं कि उसमें छपाई की बहुत सी अशुद्धियां रह जाना संभव है परंतु मेरा अभिप्राय केवल इस समय यह है कि यह छोटी सी पुस्तक पाठकों के हाथ में जयन्ती महोत्सव के दिनों में हो और वह इसको खाली समय में पढ़कर विद्वान् व्याख्याताओं के अमृत मय उपदेशों से लाभ उठा सकें। यदि आर्य जनता ने इसको कुछ भी अपनाया और उनके प्रेम से मुझे प्रोत्साहन मिला तो मैं इसके आगामी संस्करण में इसकी त्रुटियों के दूर करने का उद्योग करूंगा और इसके आकार में भी वृद्धिकर दूंगा। इस पुस्तक को मैं ने Dictate कराया है क्योंकि मेरी हाथ

से लिखने की आदत नहीं है। इसके लिखने में श्री प० बाबूरामजी एम. ए. भूतपूर्व सम्पादक आर्यमित्र और महा० मथुरालाल जी जोशी एम. ए. और मेरे भतीजे प्रिय सूर्य्यचन्द्र जी एम. ए. एल. एल. बी. जिनके माननीय पिता जी के चरणों में यह पुस्तक समर्पित है बहुत सहायता मिली है और मैं उनका आभारी हूँ। चिरंजीव पुत्र परमेश्वरसिंह एम. ए. मैनेजिंग एजेन्ट दी इन्डियन मैन्यूफेक्चरर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स लि० आगरा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने न केवल पुस्तक के लिखने में मेरा हाथ बटाया बल्कि प्रूफ को बहुत दत्तचित्त हो कर देखाहै। उनके सहयोग के बिना यह पुस्तक इस रूप में भी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं हो सकती थी। ऊपर की यह पंक्तियां मैं ने इस सम्बन्ध में लिखी हैं कि यह पुस्तक क्योंकर लिखी गई। इस पुस्तक को मैं ने अपने स्वर्गीय ज्येष्ठ भ्राता श्रीयुत बा० हीरालालजी राजकवि, बी. ए,. एम. आर, ए. एस. सब जज, रियासत कोटा के चरणों में सादर समर्पित की है। हमारे परिवार में सब से पहिले उन्होंने ही आर्यसमाज में प्रवेश किया और उन के संसर्ग से ही मुझे ऋषि दयानन्द की बनाई पद्धति के अनुसार वैदिक धर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ और उपरोक्त भाई साहब ने जीवन पर्यन्त अपनी कविता, भाषणों और पुस्तकों से आर्यसमाज का खूब प्रचार किया। उच्च पदवी के राज कर्मचारी होते हुये भी वह अपने मार्ग से विचलित न हुये। इस भूमिका के समाप्त करने से पूर्व मैं दो शब्द इस पुस्तक के नाम और विषय के सम्बन्ध में भी निवेदन करना चाहता हूँ।

कुछ वर्ष हुए मैंने जर्मनी के प्रसिद्ध फ़िलासफ़र और वैज्ञानिक की प्रसिद्ध पुस्तक The riddle of the universe पढ़ी थी और इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने प्रकृति की एक सत्ता

मान कर चैतन्य जीव की सत्ता को सिद्ध किया है और ईश्वर की व्यवस्था को केवल प्राकृतिक नियमों का एक रूप दर्शाया है। जिस समय यह पुस्तक लिखी गई उस समय इसका योरुप में बहुत मान हुआ। अब प्रबल रूप से इसका खंडन हो गया है। वर्तमान शताब्दी के प्रमुख विज्ञान वेत्ता ईश्वर और जीव की सत्ता में विश्वास रखने के लिये विवश हुए हैं। इसका कुछ दिग्दर्शन इस पुस्तक में कराया गया है। इस पुस्तक का विषय भी एक महत्व रखता है। जहां तक मुझे ज्ञात है वैदिक त्रैतवाद पर कोई एक पुस्तक अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है यद्यपि बा. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय की लिखी हुई 'आस्तिकवाद' और जीवात्मा नाम की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और बहुत उपयोगी हैं। पश्चिमी विज्ञान में भी ईश्वर जीव व प्रकृति सम्बन्धी बहुत से वाद हैं परन्तु वैदिक त्रैतवाद से मिलता जुलता कोई वाद नही है। योरुप में एक सत्ता पर विश्वास करने वाले भी हैं और दो सत्ताओं में भी और दो से अधिक सत्ताओं में भी। वहां Monist भी हैं, Dualist भी और pluralist भी। परन्तु विशेष तीन भिन्न २ अनादि सत्ताओं में विश्वास रखने वाले एक भी वाद इस समय नहीं है और इसकी झलक westoru philcsgphy की किसी पुस्तक में नहीं मिलती। हम इस संक्षिप्त सी भूमिका में किसी ऐसे वाद के न होने पर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करेंगे और इससे हमारा कर्त्तव्य भी निर्धारित हो जावेगा जो वैदिक त्रैतवाद के प्रचार के निमित्त हमको पूरा करना चाहिये।

इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को ये भी विदित होगा कि वैदिक त्रैतवाद के प्रचलित न होने के कारण फ़िलासफ़रों को कैसी अडचनें पड़ीं और कैसे मन गढ़न्त वादों की स्थापना करनी पड़ी हम इसको कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करेंगे।

जिन्होंने जीव की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी उनको जीवात्मा को परमात्मा का माया से आच्छादित रूप मानना पड़ा और फिर जब यह प्रश्न आया कि जब केवल एक सत्ता ईश्वर की ही थी तो उसमें माया कहां से आगई तो इसके लिये अनेक कल्पनाएं करनी पड़ी। इसी प्रकार जिन्होंने केवल प्रकृति को माना तो उन को जीवात्मा को प्रकृति का विकसित रूप मानना पड़ा परन्तु जड़ पदार्थ में चेतनता कैसे और कहां से आगई यह वात आज तक विज्ञान के किसी भी परीक्षण से सिद्ध नहीं हो सकी। सार यह है कि विश्व की पहेली के बूझने के लिये अता पता वही है जो प्राचीन वैदिक साहित्य में पाया जाता है, जिनको इस अते पते का ज्ञान नहीं है वह अटकल और टटोल से इस पहेली का समाधान करने का उद्योग करते रहे हैं परन्तु अन्त में भ्रम में पड़े ही रहे। वैदिक त्रैतवाद का प्रचार महाभारत के समय तक वरावर रहा जव वाममार्ग प्रचलित हुआ तो उसके वैज्ञानिक रूप चार्वाक ने केवल प्रकृति की सत्ता मानकर अपना काम चलाना चाहा क्योंकि जीव और ईश्वर की पृथक सत्ता मानने से उनके भोग विलास में बाधा पड़ती थी। वाममार्ग का प्रतिकार जैन और वौद्ध मतों के संचालक और अनुयाइयों ने किया और त्यागवाद के सहारे उनको प्रकृति की सत्ता का अत्यन्त निषेध करना पड़ा। जव इन मतों से भी नास्तिकता फैलने लगी तो श्री शंकराचार्य्य को जीवात्मा की सत्ता के महत्व को जनता के सन्मुख वलपूर्वक प्रगट करना पड़ा और जीव की सत्ता को यहां तक बढ़ाया कि ईश्वर की सत्ता से और जीव की सत्ता में अभेद सा हो गया और इससे नवीन वेदान्त के विचार प्रचलित हुये और अहं ब्रह्मास्मि का प्रचार हुआ। इसका परिणाम भयङ्कर हुआ। जीव के महत्व को दर्शाते हुये यहां तक बढ़े कि उसको ब्रह्म ही वना लिया और भारतवर्ष में अकर्मण्यता व उदासीनता

फैल गई। पूर्वीय फिलासफी जब इस दशा में थी उस समय यूनान और मिश्र के द्वारा इसकी झलक योरुप तक पहुँची और वहां भी भ्रम मूलक विचार फैल गये। यदि हम वैदिक त्रैतवाद के स्वच्छ स्वरूप को संसार के सन्मुख प्रचलित व सिद्ध करना चाहते हैं तो हमको इस चार हजार वर्ष पुरानी खाई को पार करके प्राचीन वैदिक युग की ओर अपनी दृष्टि फेरनी पड़ेगी और केवल वेदों का सहारा लेकर विश्व की पहेली को सुलझाना पड़ेगा और महर्षि दयानन्द का यही उद्देश्य थां। महर्षि के इस सन्देश को पहुँचाने के लिये ही यह छोटी सी पुस्तक लिखी गई है। इस पुस्तक के लिखने में आपिक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य कई पुस्तकों से सहायता लेनी पड़ी है। उनके नाम इस पुस्तक में स्थान स्थान पर दिये गये हैं। विशेष रूप से दो पुस्तकों का नाम उल्लेखनीय है।

1. A History of science and its relation with philosophy and religion by william cecil Dampier Dampier whetham M. A. F. R. A. S. Cambridge university press 1929.

2. Scientific Theory and religion by Ernest William Barnes Bishop of Birmingham Cambridge university press 1933.

माईथान, आगरा
२१–१२–३७

पूर्णचन्द्र

'परिशिष्ट क'

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त-प्रान्त स्वर्ण-जयन्ती पर व्याख्यानमाला

स्वर्ण जयन्ती समिति ने यह निश्चय किया है कि जयन्ती के अवसर पर इस प्रकार प्रचार हो कि प्रत्येक दिन एक निश्चित विषय पर व्याख्यान हो और व्याख्यान अधिकतर निबन्ध रूप में हों। सम्प्रति पाँच दिवस के लिये निम्न लिखित विषय निश्चित किये जाते हैं, और प्रत्येक मुख्य विषय के अन्तर्गत जो अन्य विषय आते हैं वे भी दिये जाते हैं।

प्रथम दिवस—

ईश्वर विषय

१—ईश्वर का स्वरूप, २—ईश्वर एक है, ३—ईश्वर और अवतारवाद, ४—ईश्वर और मूर्तिपूजा, ५—ईश्वरोपासना की सर्वोत्तम विधि, ६—ईश्वरोपासना की लौकिक उपयोगिता, ७—ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का वास्तविक अर्थ, ८—वैदिक त्रैतवाद।

द्वितीय दिवस—

जीव विषय

१—जीव का स्वरूप, २—पूर्व जन्म, ३—मोक्ष का स्वरूप, ४—मुक्ति से पुनरावृत्ति, ५—आवागमन और विकासवाद, ६—ज्ञान की उत्पत्ति, ७—कर्म का सिद्धान्त, ८—ईश्वर और जीव का सम्बन्ध।

तृतीय दिवस—

प्रकृति विषय

१—प्रकृति का स्वरूप, २—सृष्टि उत्पत्ति, ३—प्रलय का वैज्ञानिक स्वरूप, ४—सृष्टि की उत्पत्ति का काल, ५—अमैथुनी सृष्टि और आरम्भ में युवकों का उत्पन्न होना, ६—सौर जगत्

और नक्षत्र मण्डल की मीमांसा, ७—सृष्टि सकर्तृक है, ८—सृष्टि रचना में प्रयोजन, ९—विकासवाद।

चतुर्थ दिवस—

सामाजिक संगठन

१—आश्रम और वर्ण व्यवस्था, २—साम्यवाद, ३—पूर्व-जन्म और साम्यवाद, ४—मनुष्य जीवन को सफल बनाने के उपाय (यम नियमादि), ५—समाज और व्यक्ति, ६—प्रजातंत्र का वास्तविक स्वरूप, ७—आदर्श राज्य-प्रणाली, ८—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का वैदिक स्वरूप, ९—बहुमत प्रणाली की विवेचना, १०—वर्तमान जगत् में अशान्ति के कारण, ११—धार्मिक जीवन का महत्व, १२—धर्म का सार्वभौम स्वरूप, १३—धर्म और विज्ञान, १४—धर्म और दर्शन (Religion and philosophy) १५—आदर्श शिक्षा प्रणाली, १६—आदर्श विवाह, १६—संस्कारों का महत्व, १७—समाजिक निर्माण में महिलाओं का स्थान, १८—वर्तमान जाति-भेद।

पंचम दिवस—

वेद विषय

१—वेदों की उत्पत्ति और उनका समय, २—वेद अपौरुषेय ३—वैदिक देवतावाद, ४—वेद और स्वामी दयानन्द, ५—वेद और पश्चिमी विद्वान् ६—वेदों के ऋषि, ७—वेदों की उपयोगिता ८—ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता और उसका महत्व।

आर्य जगत् के विद्वान् लेखक व व्याख्यान-दाताओं से निवेदन है कि वे उपर्युक्त विषयों में से जिन पर निबन्ध लिखने की कृपा करें वे अपने नाम और विषय से सूचित करें।

प्रत्येक दिवस स्वर्ण-जयन्ती समिति की ओर से नियत किये हुए संयोजक उस दिन के निश्चित विषय के सम्बन्ध पढ़े जावेंगे। निबन्धों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने का यथा सम्भव प्रयत्न

किया जावेगा। यदि आर्य जनता ने इस ओर ध्यान दिया और समिति के साथ सहयोग करने की कृपा की तो ठोस साहित्यिक सामग्री एकत्र होजाने की सम्भावना है और इससे एक बहुत बड़ी कमी पूरी होगी।

निबन्ध-लेखकों को प्रत्येक विषय पर प्राचीन वैदिक साहित्य व वर्त्तमान पाश्चात्य जगत् के साहित्य से सहायता लेकर प्रकाश डालना चाहिये और इस बात को स्पष्ट करने का यत्न करना चाहिये कि जिन प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों को ऋषि दयानन्द पुनः प्रचलित करना चाहते थे उनके सम्बन्ध में वर्तमान पश्चिमी जगत् की सम्मति क्या है ?

निवेदक—

पूर्णचन्द्र एडवोकेट, माईथान आगरा।

* ओ३म् *

विश्व की पहेली

ईश्वर

संसार एक पहेली है और इसको समझने के लिये सदैव से उद्योग होता रहा है और यदि हम संसार को एक साधारण मनुष्य की दृष्टि से देखें तो दो भिन्न भिन्न विभाग हमको दृष्टिगोचर होंगे एक जड़ और दूसरा चेतन। जड़ और चेतन्त का भेद बहुत से विचारक नहीं मानते परन्तु यह भेद अभी तक मिटाया नहीं जा सका। विकासवादियों ने इस बात का बहुत परिश्रम किया कि चैतन्यता को प्रकृति का विकसित रूप सिद्ध करें परन्तु हजारों परीक्षणों के पश्चात् भी अभीतक यह सिद्ध नहीं कर पाये हैं जीव और प्रकृति का क्या स्वरूप है और उनमें क्या स्वाभाविक भेद है इन प्रश्नों की विवेचना तत्सम्बन्धी निबन्धों में की जावेगी। इस निबन्ध का आरम्भ इस आधार पर किया जाता है कि सारे जगत् को जड़ और चेतन दो श्रेणियों में विभाजित मानकर ईश्वर की विवेचना की जावे। तीसरे प्रकार के विचारक और हैं जो जगत् की सत्ता को ही भ्रममूलक या माया मानते हैं जिनको अंगरेजी में

Idealistic विचार के कहते हैं। इसकी भी सम्पूर्ण विवेचना प्रकृति सम्बन्धी निबन्ध में ही की जायेगी। इस निबन्ध का आधार Realistic अर्थात् जीव और प्रकृति की पृथक् पृथक् वास्तविक सत्ता मानकर होगा। इस Idealism और Realism का भेद कैसे उत्पन्न हुआ इसके सम्बन्ध में यहां यह लिखना पर्य्याप्त होगा कि यह विचार पश्चिमी तत्वज्ञान में भारतवर्ष के उस समय के दर्शन से लिये गये हैं जब कि भारतवर्ष की प्राचीन Philosophy का अन्तिम स्वरूप प्रचलित था। हमारा अभिप्राय जैन और बौद्ध धर्म की फ़िलौसफ़ी से है। इन दोनों धर्मों का आरम्भ वाममार्ग के प्रतिक्रिया के स्वरूप में था। वाममार्ग के समय में "भोगवाद" का प्राबल्य था प्रकृति के पदार्थों का भोग करना ही जीवन का ध्येय समझा जाता था और जिस समय भोगवाद अर्थात् Eat drink and be merry का प्रचार होता है उस समय जनता में ईश्वर की सत्ता व जीव के पूर्व जन्म आदि में विश्वास नहीं रहता क्योंकि इन दोनों से मौज उड़ाने में शङ्का उत्पन्न होती है। यदि ईश्वर का डर रहेगा तो निःसंकोच संसार के पदार्थों का भोग हम नहीं कर सकेंगे। यदि पूर्व जन्म में विश्वास रहेगा तो यह ख्याल रहेगा कि भविष्य में ईश्वर हमारे कर्मों का दण्ड देगा। इसलिये ऐसे विचार त्याज्य होते हैं। वाममार्ग के समय में चार्वाक की Philosophy का जोर था आज पश्चिमी जगत् में जहाँ खूब प्रकृति का भोग करने और आनन्द उठाने की धुन लगी हुई है वहाँ Rank materialism का प्रचार है और इसी प्रकार जब वाममार्ग की प्रतिक्रिया के स्वरूप बौद्धों और जैनियों ने त्यागवाद पर बल दिया और मनुष्यों को भोगवाद से बचाना चाहा तो उनको प्रकृति के महत्व को कम करना पड़ा उसको तुच्छ और माया या शून्य की परिभाषा देनी पड़ी और इस प्रकार Idealism का

प्रचार आरम्भ हुआ जिस समय में जैसे कर्म प्रचलित होते हैं उसके अनुसार विचार बन जाते हैं और जैसे विचार बन जाते हैं उनसे कर्म प्रभावित होते रहते हैं। Philosophy और कर्मकाण्ड का घनिष्ठ सम्बन्ध है और Idealism के प्रतिकूल तो एक मोटी दलील यह है कि किसी का यह कहना कि अमुक सत्ता नहीं है यह स्पष्ट करता है कि एक तो वह है जो कह रहा है और दूसरी वह चीज है जिसके सम्बन्ध में वह कह रहा है और तीसरा वह सम्बन्ध है जिसको वह इन्कार कर रहा है। इसलिये ईश्वर सम्बन्धी विवेचना करने के लिये जड़ और चेतन दो भिन्न प्रकार की सत्ताएँ मान लेना अभीष्ट है। और प्रकृति की अर्थात् Matter की पृथक् सत्ता और उसका अनादि होना तो प्राकृतिक विज्ञान अर्थात् Physical science सिद्ध करता है। Matter is indestructible यह उनका सर्वमान्य सिद्धान्त है। इसमें सन्देह नहीं कि जितनी प्राकृतिक विज्ञान की खोज बढ़ती जाती है वह प्रकृति का सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप समझते जाते हैं और कभी कभी प्राकृतिक विज्ञानवालों के भी कुछ वाक्य ऐसे होते हैं जिससे प्रकृति की सत्ता में संशय प्रतीत होने लगता है परन्तु यह केवल दृष्टिकोण का भेद है और इस सारे ब्रह्माण्ड को जो इतना विशाल और विचित्र है हम मायावाद के आधार पर समाप्त नहीं कर सकते।

चेतन जगत्

अब पहले चेतन जगत् को अपने सामने रक्खेंगे। इस जगत् में चाहे किसी प्रकार के प्राणी हों असमानता प्रतीत होती है और यह असमानता इस आधार पर है कि प्राकृतिक पदार्थों का भोग उनको कितना और किस हद तक प्राप्त है। जितने भी प्राणी हैं उनका जीवन कर्म पर आश्रित है और कर्म का सम्बन्ध

प्राकृतिक पदार्थों के भोग से है। यदि हम मनुष्य को ले लें तो हमें उसके अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं कोई राजा है कोई प्रजा कोई स्वस्थ है तो कोई रोगी कोई वृद्ध है तो कोई नवयुवक बल्कि यों कहना चाहिये कि प्राणीमात्र में जाति, आयु और भोग के भेद हैं किस योनि में है कितने दिन तक उस योनि में रहने का अवसर है और कहां तक सांसारिक पदार्थों के भोग करने का अधिकार है। इस जाति आयु और भोग के आधार पर ही सारे चेतन जगत में श्रेणियां व विभाग निर्मित हुए हैं और जड़ जगत् का उपयोग भी चेतन जगत् के भोग के लिये ही है।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम्

इस प्रकार इस चेतन जगत में जो भोगवाद में अर्थात् भोगने की शक्ति में जो भेद है उसके तह में एक प्रयोजन है और एक सामान्य प्रकार का नियम काम करता हुआ प्रतीत होता है। यह सारा भेद आकस्मिक या अकारण नहीं माना जा सकता। यदि चेतन प्राणी जैसे मनुष्य योनि में होते हुए कर्म करने में स्वतंन्त्र हैं यदि वैसे ही भोग प्राप्त करने में भी स्वतन्त्र हों तो कोई दुखी प्रतीत न हो वल्कि दुःख और सुख का भेद ही न रहे और यह सारा संसार जिस प्रकार चल रहा है उसका स्वरूप ही कुछ से कुछ हो जायगा। विकासवाद वाले भी सारे प्राणियों में समानता मानते हैं और विशेष अवस्था के कारण भेद भी मानते हैं। जीवों के लिये यह शरीर कार्य करने के साधन हैं या यों कह सकते हैं कि संसार के पदार्थों को भोग करने के लिये प्रदान किये गये हैं शरीरों के निर्माण में समानता इसी लिये है कि उनका निर्माता एक है। Similarity of architecture leads to the Existence of one designer or architect. जैसे इंजीनियर मनुष्यों के रहने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के

मकान बन जाते हैं और उसमें हवा और रोशनी के आने का Ventilation और गन्दगी के निकलने का Drainage और बैठने और उठने का प्रबन्ध (Residence) रखते हैं इसी प्रकार इन शरीरों में यह व्यवस्था प्रतीत होती है और बहुत सी बातें एक प्रकार की हैं और आवश्यकता के अनुसार उनमें भेद कर दिया गया है। चेतन जगत् में दुख और सुख को प्रचलित देख कर भी एक संशय यह उत्पन्न होता है कि इस दुखित अवस्था के उत्पन्न करने में क्या प्रयोजन हो सकता है। आस्तिक जगत् असमानता के आधार पर एक निर्माता या संचालक की सत्ता को सिद्ध करते हैं नास्तिक लोग इसी असमानता के आधार पर जो दुःख की द्योतक है किसी ऐसी सत्ता के न होने को सिद्ध करते हैं। वह इस संसार में भेद भाव मार धाड़ और लड़ाई झगड़ा मृत्यु और जन्म के झंझट देखते हैं और यह सिद्ध करने का उद्योग करते हैं कि इसके अन्दर इतना बेढंगापन है कि किसी संचालक या अधिष्ठाता के मानने की गुंजाइश नहीं है। यह बात भी अत्यन्त भ्रम मूलक है। विकास वाद ने अपने परीक्षणों से यह सिद्ध कर दिया है कि प्रतिकूल परिस्थिति ही विकास या उन्नति का साधन है। Struggle for existence ही उन्नति का मूल कारण है। सर अलफ्रेड रसल, वालस ने अपनी एक पुस्तक "Man's environment and human progress में Lesson of pain पर अर्थात् दुःख से शिक्षा पर बहुत प्रकाश डाला है उन्होंने प्रचलित दुखों के अन्दर एक सुन्दरता को और उपयोगिता को प्रतीत किया और उनका कहना बहुत ठीक है इस संसार में भोग की असमानता ही सुख और सुन्दरता का आधार है। यदि अवस्था का भेद न हो तो जीवन में कोई taste या interest अथवा रुचि नहीं रह सकती। गालिब ने जो उर्दू का एक प्रसिद्ध कवि है एक शेर लिखा है—

"न हो मरना तो जीने का मजा क्या ?" जीवन का मूल्य मृत्यु के खटके से है यदि मौत का खटका न हो तो जीवन में आनन्द प्रतीत न हो और यदि निर्धनता का भय न हो तो धन से सुख की सम्भावना नहीं रहेगी यदि संसार में अन्धे दृष्टि गोचर न हों तो आंखों का मूल्य ही हम न जानते यह सारी असमानता भोग के आधार पर है और यही असमानता उन्नति का साधन है यह Life के Competition का कारण है और इसीसे जीवन का रस है।

हमने इस चेतन जगत् की साधारण व मोटी दृष्टि से विवेचना की तो इसके अन्दर हमें एक प्रयोजन काम करता हुआ प्रतीत हुआ और इस प्रयोजन की सिद्धि एक विशेष प्रकार के नियमों के आधार पर दृष्टि गोचर हुई। जहां प्रयोजन और नियम होगा वहां कोई एक महान् चेतन शक्ति उस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये और उसे निश्चित करने के लिये होनी चाहिये और नियमों की सत्ता नियमों को बनाने वाला व उनके संचालक की सत्ता को सिद्ध करते हैं। केवल भेद यह है कि वह संचालक ऐसी शक्ति हो सकती है जो इस असमानता के बन्धन से मुक्त अर्थात् दुःख सुख से रहित हो और इन तमाम चेतन प्राणियों का संचालक महान् चेतनता वाला व ज्ञान वाला परम आनन्द वाला अपरिवर्तनशील व सदा एक रस रहने वाला ही हो सकता है। बिना एक ऐसी सत्ता के स्वीकार किये हुए इस चेतन जगत् की पहेली हल नहीं हो सकती और न इसका कारण प्रतीत हो सकता है।

जड़ जगत्

जड़ जगत् की विवेचना से हमें यह प्रतीत होता है कि प्रकृति के परमाणु स्वरूप धारण करते रहते हैं और उनके स्वरूप धारण

करने से तीन अवस्थाएं होती हैं—उत्पत्ति, वृद्धि, नाश। इस तीन प्रकार के चक्र में इस जड़ जगत् का चक्कर चल रहा है कई चीजें पैदा होती हैं नई नई चीजें बनती हैं और बढ़ती हैं और फिर बर्बाद हो जाती हैं। इनके पैदा होने और बढ़ने और बिगड़ने में भी प्रयोजन है अर्थात् Purpose है और सामान्य प्रकार के नियम काम करते हैं इन नियमों का जानना ही विज्ञान है।

गेहूँ पैदा होता है लेकिन यह नहीं कहते कि रोटी पैदा होती है। रोटी को बनना कहते हैं और वह इस लिये कि रोटी का बनाने वाला हमें स्पष्ट दीखता है जब कोई प्राकृतिक वस्तु कोई स्वरूप धारण करती है तो उसको कई प्रकार के Process अर्थात् विशेष अवस्थाओं में हो कर गुजरना होता है उदाहरण के लिये हम एक वृक्ष के दृष्टान्त को ले सकते हैं हमारे सामने एक हरा लम्बा वृक्ष खड़ा हुआ है उसको इस अवस्था में आने के लिये बहुत सी पूर्व की अवस्थाओं में हो कर गुजरना पड़ा है। पहले जमीन तयार की गई उसमें उस वृक्ष की वृद्धि कराने वाले पदार्थ डाले गये अर्थात् खाद दिया गया फिर बीज पहुँचाया गया प्रतिकूल परिस्थितियों से रक्षा हुई जिसे निराव कहते हैं और इस प्रकार यह सब सामग्री जब उसको मिली तब उसकी उत्पत्ति हुई अर्थात् बीज में से अंकुर निकला फिर उस अंकुर की रक्षा हुई तब वह बड़ा हुआ बड़ा हो जाने पर एक दशा ऐसी आएगी कि या तो उसकी रक्षा के साधन उसके पास नहीं रहेंगे या उसकी दशा ऐसी हो जायगी कि वह इस योग्य नहीं रहेगा कि उन साधनों से लाभ उठा सके और उत्पत्ति से लेकर उस दशा में आने तक जो जो अवस्थाएं उसकी हुई हैं उन सब का अन्त होता है और उसका स्वरूप मिटने लगता है और इसी को नाश कहते हैं और इन्हीं Processes को देख कर हम पहले आने वाली अवस्था को

कारण और पीछे आने वाली अवस्था को कार्य के नाम से सम्बोन्धित करते हैं।

A preceeding process is supposed to be the cause of the succeeding process.

इस प्रकार कारण कार्य सम्बन्ध में एक शृंखला है और जड़ जगत् में जो सारे नियम काम करते हुए दिखाई देते हैं उनसे यह पता लगता है कि कोई न कोई इन नियमों को निर्धारित करने वाला और अपने आधीन रखने वाला है और उसके अन्दर वह गुण होने चाहिये जिनकी इनमें अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों में त्रुटि है। हम अपने समझने के लिये जड़ और चेतन जगत् को पास पास रखकर उनके अन्दर एक समानता वा एक सी कार्य प्रणाली अनुभव कर सकते हैं। जिस प्रकार एक बालक के उत्पन्न होने से पहले उसके लिये दूध या खाद्य पदार्थ का इन्तजाम किया जाता है और उत्पत्ति के पश्चात् उसको बराबर भोजन सामग्री या रक्षा के साधन मिलते जाते हैं और एक दशा ऐसी आती है कि या तो उसके पास योग्य पदार्थ नहीं रहते या उसकी रक्षा के साधन नहीं रहते या उसके अन्दर उन रक्षा के साधनों का उपयोग करने या योग्य पदार्थों का उपभोग करने की शक्ति नहीं रहती। भोग की शक्ति न रहना रोग या बीमारी है और भोग शक्ति का बिलकुल अभाव हो जाना मृत्यु है। जैसे जगत् में रहते हुए मनुष्य और पशु पक्षी पैदा होते हैं बड़े होते हैं और मर जाते हैं वैसे ही बाग या जंगल में पेड़ों का हाल है बड़े से बड़े पेड़ की एक दशा यह आती है कि पहले सी ही हवा धूप और पानी का प्रबन्ध है कोई आन्धी और झक्कड़ भी नहीं आया परन्तु खड़े खड़े सूख रहे हैं और लाख उपाय करने पर भी हरे नहीं होते। इस तमाम चक्र में एक सुन्दरता और है वह

यह जड़ पदार्थ स्वरूप धारण करते हैं या अपने स्वरूप को मिटाते हैं तो इतना भी आन्तरिक कारण चेतन प्राणियों के भोग को सिद्ध करना ही है। अब इस जड़ जगत् की विवेचना से पता चला कि इनको स्वरूप धारण कराने वाला वह होना चाहिये जो स्वयं अपरिवर्तन शील और एक सा रहने वाला हो। यदि चाक के साथ कुम्हार भी घूम जाय तो मटका नहीं बनेगा। इस सारे परिवर्तन में यह बात भी दृष्टि में रखनी चाहिये कि एक स्थिर सत्ता है It is only the permanent that can change परिवर्तन सदा रहने वाली चीज़ में हो सकता है। इसलिये प्रकृति को इस रूप धारण करने से पूर्व और रूपों के मिट जाने के पश्चात् सदा अविनाशी मानना पड़ेगा और यदि प्रकृति का वास्तविक स्वरूप आदि और अन्त वाला नहीं है तो इसका संचालन भी अनादि और अनन्त होना चाहिये। और साथ ही अपरिवर्तन शील होना चाहिये और चेतन और Intelligent होना चाहिये प्राकृतिक विज्ञान जितनी उन्नति करेगा उतने ही उत्तम और अकाट्य उदाहरण उपर्युक्त सचाई के हमारे सामने प्रस्तुत करेगा। जड़ और चेतन दोनों जगत् में हमने यह देखा कि तीसरी सत्ता के मानने की आवश्यकता होती है। एक तीसरी सत्ता तर्क और विज्ञान के आधार पर सिद्ध होती है और इन तीनों प्रकार की सत्ताओं में भेद ईश्वर के एक नाम सच्चिदानन्द से समझ में आ सकता है। ईश्वर सत् चित् व आनन्द है। पहला गुण अर्थात् सत् जीव और प्रकृति ईश्वर तीनों में पाया जाता है और दूसरा गुण चित् जीव और ईश्वर में पाया जाता है। आनन्द अथवा परम आनन्द ईश्वर की विशेषता है—

किसी द्रव्य की सत्ता का ज्ञान हमें उसके गुणों से ही होता है। केवल गुणों का प्रत्यक्ष होता है। और उसी से गुणी को

प्रत्यक्ष मान लिया जाता है ईश्वर के सारे गुण चेतन व जड़ जगत् की विवेचना से प्रत्यक्ष समझ में आते हैं अर्थात् उसका अनादि होना अजर अमर होना सर्वज्ञ और सर्व व्यापक होना और सर्व शक्तिमान होना इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होते हैं ईश्वर के सारे गुण तीन Categories में विभाजित किये जा सकते हैं।

१—ईश्वर और जीव के सम्बन्ध से।
२—ईश्वर और प्रकृति के सम्बन्ध से।
३—प्रकृति और जीव के परस्पर सम्बन्ध से।

जीव और प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध को स्थिर रखने व संचालन करने के लिये ईश्वर के उन गुणों की आवश्यकता है जैसे न्यायकारिता और दयालुता। जीवों के भोग को Regulate करता है और निष्पक्ष भाव से भोग करने का अवसर देता है और भोग्य पदार्थ प्रदान करता है इसलिये न्यायकारी है। परमेश्वर के जो निज के नाम हैं वह तीनों प्रकार के सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर हैं शेष नाम गुणवाचक हैं और उपर्युक्त प्रकार में से किसी एक प्रकार के गुण को प्रगट करते हैं।

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर के गुणों का समझ लेना ही ईश्वर के स्वरूप को समझ लेना है। ईश्वर का स्वरूप जीव और प्रकृति के समान है तथा ईश्वर की जो विशेषताएँ हैं उनका कुछ वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ईश्वर के स्वरूप को समझ लेने का प्रश्न महान आवश्यक है। यदि कोई ईश्वर की सत्ता स्वीकार करे परन्तु उसके गुणों को न समझता हो या ग़लत समझता हो तो वह भी ईश्वर को न मानने वाला ही समझा जावेगा। वेद ने ईश्वर जीव प्रकृति और उनके परस्पर सम्बन्ध का वर्णन इस प्रकार किया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
ऋ० सं० १ । १६४ । २० ।

अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः ।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगा मजोन्यः ॥
श्वे० ४ । ५ ।

स पर्यगाच्छुक्रमकाय मव्रणमस्नाविरं शुद्धमपाप विद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयं भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः । यजु० ४० । ८ ।

१—जो ब्रह्म और जीव दोनों चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं और वैसा ही अनादि मूल रूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है। वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्ष रूप संसार में पाप पुण्य रूप फलों को अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर वाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। —सत्यार्थप्रकाश।

२—प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फँसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है।

३—वह ईश्वर सर्व व्यापक, अनन्त बलयुक्त, स्थूल सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों के संयोग से रहित, सर्वथा छिद्र रहित,

नाड़ी आदि बन्धन रहित, अविद्या अज्ञान आदि दोष रहित पाप शून्य, सब कुछ जानने वाला अन्तर्यामी, सबसे ऊपर, कारण रहित है उसने सृष्टि की आदि में सब अर्थों का उपदेश किया है।

ईश्वर का स्वरूप जान लेना असली विज्ञान है और उसकी गहराई से विवेचना करना और नियम निर्धारित करना Philosophy दर्शन है और क्रियात्मक रूप में जीवन में उपयोग में लाना Religion है। यह मानते हुए भी कि पिछली शताब्दी में पश्चिमी जगत् में बहुत से वैज्ञानिक और दार्शनिक ऐसे हुए जिन्होंने ईश्वर के स्वरूप को ठीक न समझकर ईश्वर की सत्ता का निषेध कर दिया या संसार की पहेली को अन्य आधारों पर समझने का प्रयत्न किया परन्तु अब सारे विज्ञान और दर्शन की विवेचना के पश्चात् अनेक ऐसे विद्वान् हैं जो इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस पहेली की आधार शिला ईश्वर ही है और ईश्वर को माने बिना यह संसार की बात समझ में नहीं आ सकती। कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:—

And it is just here that religion completes the wonderful story of evolution, gives us the purpose of the universe, and reveals the eternal energy behind all, not as simply an impersonal infinite energy, which is a non-material something, but reveals the finite as a personal God.

(Science and religion by Seven menof Science
p. 68 (1919)

"और वह यहीं है कि धर्म विकासवाद की विचित्र कहानी को पूर्ण रूप देता है; संसार का उद्देश्य बताता है और सब का आधार स्वरूप अनन्त शक्ति को प्रकट करता है, केवल अव्यक्त

असीमित रूप में नहीं वरन् ईश्वर की सत्ता का व्यक्त रूप से बोध कराता है।"

Sir John Seely in his 'Natural religion' says that man of Science worships a greater God than the average church goer.

'सरजान सी ली ने अपनी पुस्तक 'नेचुरल रिलीजन' में कहा है कि एक वैज्ञानिक साधारण मन्दिर में जाने वाले की अपेक्षा एक बड़े परमात्मा व ईश्वर की पूजा करता है।

There is behind Nature, as it seems to me, a Power who has created and guided and still sustains. His ways are wonderful and our understanding of them will ever be partial. The mystery of life is unsolved, probably insoluble.

As I see the matter, life and mind are the supreme manifestations for us of God's creative might.

Scientific theory and religion by E. W. Barnes. page 402.

प्रकृति के पीछे, जैसा कि मुझे प्रतीत होता है, एक शक्ति है जिसने सृष्टि की, व पथ निर्देष किया तथा अब भी रक्षित रखती है। उसके पथ विचित्र हैं और उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सदा अधूरा है। जीवन की पहेली अभी तक सुलझी नहीं है; सम्भवतया यह न सुलझने वाली ही हो।

जैसा कि मैं देखता हूँ कि पदार्थ, जीवन व मन उस ईश्वर की सृष्टि-शक्ति के उच्चतम उदाहरण है।

(साइन्टीफिक थियोरी एन्ड रिलीजन; ई. डब्ल्यू. बार्नेस पृष्ठ४०२)

Theism and Science will in the end form a harmonious unity, and that the growth of our knowledge of nature will strengthen belief in the existence of God.

अर्थात्—

'आस्तिकवाद व विज्ञान अन्त में एक संगत संगठन सूत्र में बंधेंगे और प्रकृति सम्बन्धी हमारे ज्ञान की उन्नति ईश्वर की सत्ता में विश्वास को अधिक दृढ़ बनायेगी।

और इन प्रमाणों से यह बात समझ में आ सकती है कि यदि निष्पक्ष भाव से और पूर्ण रीति से स्वाध्याय किया जाय तो अन्तिम परिणाम ईश्वर के सम्बन्ध में श्रद्धा और भक्ति ही हो सकता है। उपर्युक्त विवेचना से यह भी सिद्ध होता है कि

ईश्वर एक ही है

यदि ईश्वर को एक नहीं मानेंगे तो तर्क की दृष्टि से बड़ी आपत्ति प्रतीत होगी। यदि ईश्वर जड़ और चेतन जगत् का संचालक व अधिष्ठाता है तो एक ही ऐसी सत्ता होनी चाहिये। यदि एक से अधिक मानेंगे तो तीनों में से एक बात हो सकती है या तो दोनों शक्तियां समान बल वाली हों या उनमें से एक अधिक बलवान हो और एक कम, समान शक्ति होने की दशा में यदि दोनों साथ साथ काम करेंगे तो फल न्यूटरल होगा और कमी और बेशी की हालत में भी कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा। एक महान शक्ति ही सिद्ध होती है एक से अधिक नहीं वेदों में स्पष्ट प्रमाण ईश्वर के एक होने के उपस्थित हैं—

हिरण्य गर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।
सदाधार पृथिवींद्यामुतेमां कस्मै देवायहविषा विधेम॥

यजु० १३-४

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। तमिदं निगतं सहः सएष एक एकवृदेक एव। अथर्व कां० १३।४।१६, १७, १८, २०,

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान माहुः। ऋ० सं० १-१६४-४६

एको देवः सर्व भूतेषुगूढः सर्व व्यापी सर्व भूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। एक के स्थान में अनेक ईश्वर मानने की प्रथा उस समय से प्रचलित हुई जब से वैदिक प्रणाली का ह्रास हुआ और वेदों के पठन पाठन की प्रथा न रही। बहु देवतावाद के प्रचार का सम्बन्ध मूर्तिपूजा के प्रकरण में स्पष्ट किया जावेगा।

ईश्वर और अवतारवाद

उपर्युक्त विवेचना से जो ईश्वर के गुण सिद्ध हुए हैं अर्थात् परमानन्द होना सर्व शक्तिमान होना सर्वज्ञ और सर्व व्यापक होना तो उसको अवतार धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह अल्पज्ञ जीवों के लिये है जिनको विशेष कार्य के लिये विशेष स्वरूप के धारण करने की आवश्यकता पड़ती है। महान शक्ति वाले ईश्वर को इसकी आवश्यकता नहीं। आवागमन के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का अवतार होता है परमात्मा का नहीं। मनुष्यों का स्वभाव है कि जब कभी आपत्ति में होते हैं और उनकी कोई रक्षा करता है तो वे स्वभावतः उसकी प्रशंसा करते हैं। सब से उत्तम और वास्तविक रक्षक ईश्वर है उसी की छत्र छाया में हम जीवन निर्वाह करते हैं यदि किसी दशा में कोई जीव या प्राणी मनुष्य समाज की असाधारण रक्षा करता है तो प्रशंसा के भावों से प्रेरित होकर मनुष्य उसको साक्षात्

ईश्वर ही कहने लगते हैं रावण के राक्षसपन से श्री रामचन्द्रजी ने रक्षा की और उनको कवियों ने साक्षात् ईश्वर की उपमा दी— वाममार्ग के भयंकर चक्र से गौतमबुद्ध ने बचाया और उसे भी ईश्वर का अवतार मानते हैं। सम्प्रति भी यह देखा जाता है कि यदि कोई वैद्य या चिकित्सक असाधारण बुद्धि का परिचय किसी रोग के निवारण में करता है तो उसको धन्वन्तरि या मसीहा का अवतार कहा जाता है किसी कवि की प्रशंसा भी इसी प्रकार की जाती है कि आप अपने समय के कालिदास या शेक्सपियर हैं। ये प्रशंसा के भाव स्वाभाविक हैं इनसे धार्मिक सिद्धान्तों के रूप में अवतारों का मानना भ्रममूलक है। प्रचलित अवतार निम्न लिखित हैं:—

१. सनत्कुमार २. वाराह ३ नारद ४, हंस ५. नर नारायण ६. कपिल ७. दत्तात्रेय ८. यज्ञ ९. ऋषभदेव १०. पृथु ११. मत्स्य १२. कच्छप १३. धन्वन्तरि १४. मोहिनी १५. नृसिंह १६. वामन १७. परशुराम १८. वेद व्यास १९. राम (दाशरथि) २०. बलराम २१. कृष्ण २२. बुद्ध २३. हयग्रीव २४. कल्कि।

इन सब में अवतार मानने का कारण उस समय के अत्याचारों से रक्षा के भाव हैं। अब इतिहास को धार्मिक ग्रन्थ मान लिया जाता है तो भी सिद्धांतों के सम्बन्ध में भ्रम हो जाता है और जब कवियों की भावना से धार्मिक सिद्धांत निर्धारित होते हैं तो भी ऐसा ही होता है। इस अवतारवाद से देश की और जाति की महान हानि हुई।

अवतारवाद से हानि

महान पुरुषों के जीवन से साधारण पुरुष शिक्षा ग्रहण करते हैं और अपने जीवन में उत्साह प्राप्त करते हैं। यदि उस महान पुरुष को हम ईश्वर मानने लगें तो मनुष्यों के अन्दर

क्रियात्मक जीवन के लिये उत्साह प्राप्त नहीं हो सकता। हम पौराणिकों के मन गढ़न्त अवतारों के गुणगान नित्य सुनते हैं परन्तु जीवन में उससे कोई लाभ नहीं होता। यह कह कर संतोष कर लेते हैं कि अजी वे तो ईश्वर ही थे हम ऐसा नहीं कर सकते। इसी अवतारवाद से भक्ति मार्ग और गुरु परम्परा का आरम्भ हुआ। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने अवतारवाद का बड़ी प्रबलता से खण्डन किया। वे जानते थे कि जब तक यह भ्रान्ति दूर न होगी उस समय तक आर्य जाति का उद्धार नहीं हो सकता। हिन्दू जनता कभी निष्पक्ष भाव से यदि इन अवतारों की शृंखला पर विचार करे तो उसको इनके अन्दर जो भ्रम है स्वयं प्रतीत हो सकता है।

ईश्वर प्राप्ति

ईश्वर सम्बन्धी विवेचना का सबसे आवश्यक अंग ईश्वर प्राप्ति है; सारे वेद और शास्त्र इसकी शिक्षा से भरे पड़े हैं; और सारा जप तप यम नियम इसी के लिये हैं। यदि ईश्वर प्राप्ति का अभिप्राय हमारी समझ में आजावे तो बहुत से प्रश्न हल हो जाते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व व्यापक है; हर जगह मौजूद है; हमारे अति समीप है फिर भी ईश्वर के सम्बन्ध में प्राप्ति का शब्द क्यों उपयोग में आता है? प्राप्त और अप्राप्त का शब्द तो दूर की चीज के लिये है। परन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में प्राप्ति का शब्द क्यों उपयोग में आता है यही समझ लेना आवश्यक है। मनुष्य प्रकृति के पदार्थों का भोग करता है और उसके अन्दर भोग की अत्यन्त प्रबल इच्छा रहती है और ईश्वर जीव के भोग को नियन्त्रण में रखने के लिये है। प्रकृति की चीजें बड़ी आकर्षक और चमकीली हैं और इन्द्रियों का मुख बाहर की ओर है मनुष्य स्वभाव से बाहर की चीजों की तरफ खिंचता है

और काम क्रोध लोभ मोह के वशीभूत होकर उनमें लिप्त हो जाता है और ऐसा लिप्त होता है कि नियन्त्रण करने वाली शक्ति को भूल जाता है और भूलकर यह धारणा कर लेता है कि जितनी मुझ में शक्ति है मैं भोग करलूं कोई हस्तक्षेप करने वाला नहीं है। मोटे शब्दों में might को right समझता है यह नहीं समझता कि right is might प्रकृति के झंझट में फंस कर ईश्वर को भूल जाना ईश्वर की अप्राप्ति है और ईश्वरको याद रखना प्राप्ति है यह कैसे हो यह एक बड़ा कठिन प्रश्न है। याद रखना और भूल जाना ये मनोविज्ञान के प्रश्न हैं। इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य की शिक्षा व दीक्षा आरम्भ से ऐसी हो कि वह ईश्वर को याद रखने का अभ्यासी हो और यदि उसका ऐसा अभ्यास परिपूर्ण होगा तो उसका जीवन सफल होगा।

ईश्वर प्रार्थना

ऐसे अभ्यास को चिरस्थाई बनाने के लिये ईश्वर प्रार्थना व उपासना की विधि है युद्ध के लिये सैनिक को तय्यारी करनी पड़ती है और उसके अभ्यास को क़वायद कहते हैं मनुष्य को अपने कार्यों में काम क्रोध लोभ मोह से शुद्ध करना पड़ता है। और इसी लिये इनको महाबली शत्रु कहा गया है इन पर विजय प्राप्त करने के लिये ईश्वर प्रार्थना के अभ्यास की आवश्यकता है। मनुष्य का जीवन रात और दिन दो प्रकार के विभागों में विभाजित है। पूर्व इसके कि अपनी दिनचर्या आरम्भ करे उसको इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये अभ्यास का आदेश है। दिन भर के पश्चात् रात्रि के कार्य आरम्भ होने से पूर्व फिर इस अभ्यास को दुहराया जाता है परमात्मा को उपासना और प्रार्थना में सर्व व्यापक और सर्वज्ञाता के नामों से सम्बोधित किया जाता है और उस को 'चक्षु' भी कहते हैं परमात्मा की सर्व व्यापकता में देश और काल बाधक नहीं है।

ईश्वर छः हों दिशाओं में परिपूर्ण है अर्थात् पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण ऊपर और नीचे। ईश्वर प्रार्थना अर्थात् ईश्वर की पूजा इस प्रकार होनी चाहिये कि ईश्वर को सर्व व्यापक मानने की धारणा हमारे मन में स्थिर हो जावे और हम प्रकृति के प्रलो-भनों में न पड़ें या कम पड़ें और पड़कर भी उस सचाई को न भूलें इसलिये प्रार्थना की विधि वही सफल हो सकती है जो इस लक्ष्य की पूर्ति करे।

ईश्वर प्रार्थना की विधि

सफलता और असफलता लक्ष्य की पूर्ति के अभिप्राय से है। हमारी प्रार्थना की विधि में चाहे कितनी ही सादगी या कितना ही आडम्बर क्यों न हो यदि प्रकृति से हमारा सम्बन्ध उस समय के लिये भी विच्छेद नहीं होता जब हम प्रार्थना में संलग्न हैं तो ऐसी विधि सफल नहीं हो सकती। जीवात्मा का प्रकृति के पदार्थों से सम्बन्ध इन्द्रियों द्वारा होता है और इन्द्रियाँ हमारे शरीर के आवश्यक अंग हैं। आत्मा के प्रकृति के पदार्थों से Connecting link जोड़ने वाली कड़ी इन्द्रियाँ हैं और यदि प्रार्थना के समय हम अपनी इन्द्रियों को नहीं भूल सकते तो हम प्रकृति के पदार्थों को भी नहीं भूल सकते। इस लिये प्रार्थना की विधि का आवश्यक अंग आसन है।

आसन

यदि हम खड़े होकर या घुटनों के बल झुक कर प्रार्थना करेंगे तो हमें इतना ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि हम गिर न जांए। अनुभव से सिद्धासन ही सर्वोत्तम आसन सिद्ध हुआ है। इसमें न आलस्य आता है और न गिरने इत्यादि का भय रहता है। योग में समाधि भी इसी लिये है कि हम अपने शरीर और उसके सम्बन्धी भोग को बिलकुल भूल कर ईश्वर का साक्षात् कर सकें।

वैदिक सन्ध्या

ऋषि दयानन्द ने जो सन्ध्या की विधि पंच महायज्ञ विधि में निर्धारित की है वह उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति के लिये सर्वांग पूर्ण व उत्तम है। ईश्वर भूत, भविष्यत् और वर्तमान के बन्धनों से रहित है। फिर भी मनुष्य अपने समझने के लिये परमात्मा के सम्बन्ध में तीनों काल इस प्रकार निश्चित कर सकता है कि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व उत्पत्ति के पश्चात् और प्रलय के पश्चात्। वैदिक सन्ध्या में आचमन मन्त्र व इन्द्रिय स्पर्श के मन्त्र मार्जन मन्त्र व प्राणायाम शरीर इन्द्रिय व मन की शुद्धि व स्थिरता के लिये हैं और मनुष्य को उपासना के लिये उद्यत होने के योग्य बनाते हैं शरीर बलवान और निरोग हो और मन भी पवित्र हो। जब ऐसा होगा तब हम ईश्वर का चिन्तन कर सकेंगे। फिर अघमर्षण मन्त्र आरम्भ होता है जिससे परमात्मा का चिन्तन सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व की दशा में किया जाता है। यह ध्यान में रहना कि परमात्मा सारी सृष्टि का रचयिता निर्माता और धारण करने वाला है हमारे पापों का नाशक है। वह इस लिये कि ऐसी धारणा रखने वाला पाप करने का साहस ही नहीं कर सकता।

सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् ईश्वर का वैभव सारे ब्रह्माण्ड में छहों दिशाओं में परिपूर्ण है और मनसा परिक्रमा द्वारा सब दिशाओं में ईश्वर के चिन्तन का अभ्यास किया जाता है। और मनसा परिक्रमा के पश्चात् उपस्थान मन्त्र रक्खे गये हैं। यह प्राकृतिक वैभव यदि ईश्वर तक पहुँचावे तो प्रकाश का साधन है इस रचना की सुन्दरता को देख कर रचयिता का ध्यान होना चाहिये परन्तु यदि यह ईश्वर तक न ले जावे तो अन्धकार का कारण है। इस लिये ईश्वर का प्रकृति से सम्बन्ध रहित ध्यान का नाम उपस्थान है और उपस्थान में इस प्रकृति को तम

कहा है और इस तम से परे हो कर ईश्वर के चिन्तन का आदेश है। और ईश्वर को तच्चक्षुर्देव हितकारी ज्ञान का प्रदाता इत्यादि नामों से सम्बोन्धित किया गया है जब हमारा अभ्यास इतना परिपूर्ण हो कि हम छः हों दिशाओं और तीनों कालों में ईश्वर के वैभव और सत्ता को अनुभव कर सकें तो हम इस योग्य होंगे कि हम ईश्वर को विचित्र कह सकें और वरने योग्य कह सके तथा अपना मित्र समझ सकें और सारे चेतन जगत् का नियन्त्रण करने वाला समझ सकें। ऐसा अभ्यास हमें एक या दो दिन या किसी विशेष समय पर नहीं करना है। नित्य करना है और सौ वर्ष तक करना है अर्थात् जीवन पर्यन्त करना। है ऐसे अभ्यासी के लिये न संसार दुःख का स्थान है और न जीवन त्याज्य वस्तु है। मनुष्य का जीवन जितना अधिक हो उतना ही ईश्वर प्राप्ति का अधिक अवसर उसको मिलता है। एक एक क्षण मूल्यवान है इसलिये सौ वर्ष जीने की प्रार्थना है। परन्तु ऐसे नहीं कि न मुंह में दाँत न पेट में आँत लकड़ी पकड़ कर चलते हों और सुनाई भी कम पड़ता हो नाम के लिये जीवित हों परन्तु मरे से बदतर अपने के लिये भार रूप हों और दूसरों के लिये दुःख के साधन। इसलिये सन्ध्या के आरम्भ में इन्द्रियों को निरोग और बलवान तथा पवित्र रखने की शिक्षा है और अन्त में भी इस पर पुनः बल दिया गया है परन्तु इन्द्रियों के स्वस्थ होने के साथ साथ बुद्धि का पवित्र, ठीक और निर्मल होना भी आवश्यक है नहीं तो हट्टे कट्टे भी हुए और अकल सठिया गई तो भी कोई लाभ नहीं। सठिआए हुए बुडढे की बात कोई नहीं सुनता। इसलिये बुद्धि के पवित्र रखने की याचना स्वाभाविक और आवश्यक है और गायत्री मन्त्र का यही आदेश है। बुद्धि प्राप्त होते ही मनुष्य में अहंकार आजाता है और हंकार आते ही बुद्धि भी नष्ट होती है और क्लेश उत्पन्न हो

जाता है आज शिक्षित जगत् में बुद्धिमानों में नास्तिकों की शिक्षा अधिक है। वह अपनी बुद्धि के बल से संसार के पदार्थों में उपस्थित विज्ञान को समझ लेते हैं और अभिमान में आकर यह कहने लगते हैं कि हमने सब कुछ समझ लिया। न कोई समझाने वाला है; और न कोई इन चीजों का निर्माता। उनकी दशा उस विद्यार्थी के अनुसार है कि जो किसी एक प्रश्न के ठीक उत्तर निकाल लेने पर अभिमान से कहने लगता है कि मैं स्वयं प्रश्न निकाल लेता हूँ अध्यापक की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिये बुद्धि को शुद्ध पवित्र व निर्मल स्थायी रूप से रखने के लिये नम्रता की आवश्यकता है। यदि हम अपने शारीरिक बल को बुद्धि के बल से अथवा मानसिक बल से किसी प्रकार भी उन्नति करें और यह बात ध्यान में रक्खें कि हमने जो कुछ उन्नति की वह ईश्वर की कृपा व उसके प्रदत्त ज्ञान के आधार पर की और उसी के प्रदान किए हुए सांसारिक पदार्थों की सहायता से की वही हमारे सुख दुःख का आधार है और वही हमारे जीवन का दाता है तो हमारे अन्दर न कभी अभिमान आवेगा न हृदय में ईर्ष्या और द्वेष पैदा होगा और क्लेश से रहित रहेंगे। इसलिये वैदिक सन्ध्या में अन्तिम अभ्यास नमस्कार मन्त्र से है जिससे हम में नम्रता, शील, सन्तोष और ईश्वर से प्रेम चिरस्थायी रहे। यह वैदिक सन्ध्या की विधि मनोविज्ञान की दृष्टि से सर्वोत्तम विधि है इसमें किसी प्रकार त्रुटि नहीं है न हम रोज की रोटी माँगते हैं और न खड़े होकर उठने बैठने का अभ्यास करते हैं।

मूर्त्ति पूजा त्याज्य है

उपर्युक्त लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए मूर्त्ति पूजा ईश्वर प्राप्ति का साधन कदापि नहीं हो सकता। प्रथम तो ईश्वर की मूर्त्ति हो नहीं सकती। सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी ईश्वर का कोई

आकार नहीं हो सकता और आज तक भी यद्यपि मूर्त्तिपूजा को प्रचलित हुए कई हजार वर्ष हो चुके किसी मूर्त्ति को ईश्वर की मूर्ति नहीं कहते और न कोई मन्दिर ईश्वर का मन्दिर है। यदि ईश्वर का आकार होता तो उसका एक प्रकार का स्वरूप होता और उसकी एक प्रकार की मूर्त्ति होती अनेक प्रकार की मूर्तियाँ प्रचलित होकर ही यह बात सिद्ध करता है कि ईश्वर का कोई स्वरूप नहीं; कोई आकार नहीं; सब मन गढ़न्त देवी देवताओं की मूर्त्तियाँ हैं।

मूर्त्ति पूजा का आरम्भ

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ११ पृष्ठ १६८ (शताब्दी edition Ajmere) पर यह सिद्ध किया है कि हिन्दुओं में मूर्त्ति पूजा जैन और बौद्ध के पश्चात् से प्रचलित हुई।

"(प्रश्न) मूर्त्ति पूजा कहाँ से चली? (उत्तर) जैनियों से।"

"(प्रश्न) जैनियों ने कहाँ से चलाई? (उत्तर) अपनी मूर्खता से" ....जैनों ने मूर्त्तियाँ नंगी ध्यानावस्थित और विरक्त मनुष्य के समान बनाई हैं उनसे विरुद्ध वैष्णवादि ने यथेष्ट शृङ्गारित स्त्री के सहित रंग राग भोग विषयासक्ति सहिताकार खड़ी और बैठी हुई बनाई हैं ये लोग बड़ा कोलाहल करते है तब तो ऐसी लीला के रचने से वैष्णवादि सम्प्रदायी पोपों के चेले जैनियों के जाल से बचके इनकी लीला में आ फसे। ....इसी प्रकार जब एक ने लीला रची तो उसको देख सब पोप लोगों ने अपनी जीविकार्थ छल कपट से मूर्त्तियां स्थापित कीं"

उनके शब्दों की सत्यता इतिहास से भी सिद्ध होती है। तीन हजार वर्ष से पूर्व न किसी मूर्त्ति का प्रमाण किसी प्राचीन ग्रन्थ में मिलता है और न मूर्त्ति पूजा की शिक्षा। बल्कि पुराणों में अनेक प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिन से मूर्त्ति पूजा का निषेध होता है जैसे श्रीमद्भागवत् में.........

यस्यात्म बुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीकलत्रादिषु भौम इज्यधी यस्तीर्थ बुद्धिः सलिलेन कर्हिचित्जनेस्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ।

मूर्ति पूजा का वर्त्तमान स्वरूप

इस बात से विवश होकर कि ईश्वर की मूर्त्ति नहीं हो सकती अब मूर्त्ति पूजा के पोषकों ने इस बात पर बल देना आरम्भ किया है कि मूर्त्ति पूजा से हम ईश्वर की पूजा नहीं करते बल्कि ईश्वर की पूजा में ध्यान लगाते हैं। मनुष्य की बुद्धि परिमित है वह निराकार वस्तु का ध्यान बिना किसी आकार वाली वस्तु के सहारे के नहीं कर सकता। सम्भव है कोई योगी निराकार ईश्वर की आराधना बिना किसी आकार वाली वस्तु के सहारे कर सके साधारण व्यक्ति के परिश्रम से ऐसा करना बाहर है और यह युक्ति साधारण जनता को रुचिकर प्रतीत होती है। इसलिये इसकी विवेचना मोटी मोटी दलीलों से करना आवश्यक है। यह ठीक है कि जिसका ध्यान करना है उसकी मूर्ति या चित्र देखकर उसका ध्यान हो सकता है परन्तु यह आवश्यक है कि जिसका ध्यान करना हो उसका ही चित्र हो। यदि महात्मा गांधी का ध्यान करना है तो लोकमान्य तिलक के चित्र से क्या लाभ इसलिये यदि ईश्वर का कोई चित्र नहीं तो किसी चित्र या मूर्त्ति से ईश्वर की ओर ध्यान नहीं लग सकता। हाँ और भटक सकता है जैसे कि हम आगे सिद्ध करने का यत्न करेंगे।

ईश्वर का साक्षात्

ईश्वर के दर्शन वहां हो सकते हैं जहां ईश्वर और हम दोनों हों। ईश्वर सर्व व्यापक है और मूर्त्ति में भी है परन्तु जीव अल्पज्ञ और एक देश व्यापी है इसलिये जीव ईश्वर के दर्शन वहीं कर सकता है जहां दोनों हों अर्थात् हृदय के भीतर——

एक विचित्र सच्चाई

बड़े से बड़े मूर्तिपूजक भी जब मन्दिर में ध्यान करने लगते हैं तो मूर्ति से अपनी आंखें वन्द कर लेते हैं और आंख वन्द करके ही ध्यान करते हैं और जब हमें किसी बात का स्मरण करना होता है तो भी हमें आंख वन्द करके ही बात ध्यान में लानी होती है। ध्यान करने व स्मरण करने की शक्ति आत्मा के अन्तर्गत है। वाहर के पदार्थों में मन दौड़ाने से सहायता के स्थान में बाधा उपस्थित होती है।

ध्यान की क्रिया की विवेचना।

हमने ऊपर यह दर्शाने का यत्न किया कि ईश्वर उपासना से अभिप्राय प्रकृति के झंझटों से बचना और ईश्वर को प्रकृति से असम्बद्ध रूप में ध्यान करना है। किसी भी प्रकार की मूर्ति क्यों न हो उसका सम्बन्ध प्राकृतिक वस्तुओं से होगा। मनुष्य की बनाई हुई होगी और यदि आभूषण और वस्त्र से अलंकृत होगी तो और भी प्रकृति की ओर खींचने वाली होगी। हम अपने अभिप्राय को एक उदाहरण से सिद्ध करेंगे।

एक आदमी को ईश्वर का ध्यान करना है और उसने एक सुन्दर फूल अपने सामने रक्खा। फूल तीन प्रकार के हो सकते हैं। एक फूल एक जंगल का फूल होता है दूसरा फूल एक बाग में फूल होता है। तीसरा फूल जंगल के फूल या वाग के फूल का अनुकरण करके एक कारीगर कागज कपड़ा या पत्थर का बना सकता है। यदि हम उस मनुष्य के बनाये हुए फूल को ध्यान में रखेंगे तो उसकी सुन्दरता देखते ही सबसे पहले उस कारीगर का ध्यान आएगा जिसने उसे बनाया है। और यदि हम उस कारीगर से आगे ध्यान कर सकें तो उस फूल तक पहुँचेंगे जो उस कारीगर का आधार है। बाग के फूल को भी देखकर बाग

के मालिक और बाग़ के माली का ध्यान आएगा परन्तु वन के फूल को देखकर हम उपरोक्त दोनों प्रकार के झंझटों से बचकर ईश्वर की कारीगरी की कुछ प्रशंसा करने योग्य हो सकते हैं परन्तु वन के फूल में भी भय इस बात का है कि कहीं उसके रूप रस व गन्ध में हम लिप्त न हो जावें। इस लिये यह प्राचीन काल से प्रथा रही है कि ईश्वर के ध्यान के अभ्यासी नगर और बस्तियों को छोड़कर पहाड़ों की गुफाओं में जाते हैं और वहां भी ध्यान करते समय आंखें बन्द कर लेते हैं। मूर्ति पूजा के अनुभव से यह पता चलता है कि जो मूर्ति के सबसे अधिक समीप हैं और सबसे ज्यादा मूर्तिपूजा करते हैं जैसे मन्दिरों के पुजारी और गुंसाई उनके भोग विलास की गति सबसे अधिक तीव्र है। चिराग़ के नीचे अंधेरा वाली बात उनके सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। वह मूर्तिपूजा करते समय मूर्त्ति को सन्तुष्ट करने के अभिप्राय से बड़े बड़े स्वादिष्ट पदार्थों का भोग लगाते हैं। नाम के लिये मूर्ति की पूजा और मूर्ति का भोग पर वास्तविक रूप में मूर्त्ति पूजक के हृदय के अन्दर भोग विलास की अग्नि प्रज्वलित होती है। यह दैनिक दृश्य है परन्तु हम इसको अनुभव नहीं करते। हमारे लिये साधारण सी बात है इस लिये कभी हमको निष्पक्ष भाव से विचारने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परमात्मा का धन्यवाद है कि साधारण हिन्दु गृहस्थी नाम मात्र के ही मूर्त्तिपूजक हैं। नहीं तो उनका जीवन भी पुजारियों की तरह आक्षेप जनक होता। हमारी धारणा तो यह है कि साधारण व्यक्तियों के लिये तो मूर्तिपूजा महान हानि कारक और त्याज्य है। सम्भव है कोई योगी इतना प्रबल अभ्यासी हो कि मूर्त्ति को देखकर ईश्वर की सत्ता का प्रकृति के झंझटों से परे होकर ध्यान कर सके। परन्तु यह बहुत कठिन है। और उसको न मूर्ति की आवश्यकता है और न किसी अन्य साकार

वस्तु की। ऋषि दयानन्द मूर्ति पूजा की प्रथा के प्रबल विरोधी थे और उनकी यह धारणा थी कि मूर्ति पूजा ने ही हिन्दू (आर्य) जाति का नाश किया है और इसलिये उन्होंने अपने सारे प्रचार व देशाटन में मूर्ति पूजा के खण्डन में भरसक प्रयत्न किया। ऋषि दयानन्द के पश्चात् भी कुछ समय तक मूर्ति पूजा के खण्डन मण्डन की चर्चा रही परन्तु अब इस ओर कम ध्यान दिया जाता है। यह ठीक है कि उस समय की अपेक्षा अब मूर्ति पूजा का रिवाज बहुत कम होगया है और विचारों में परिवर्तन भी आगया है। फिर भी जैसे कि एक भजनीक ने कहा है कि "शिव रात्रि अभी तक छोड़ा नहीं बुतों को" इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। ऋषि दयानन्द ने मूर्त्ति पूजा के विरुद्ध सत्यार्थ प्रकाश व शास्त्रार्थों में जो अकाट्य युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

१—साकार में मन स्थिर नहीं होता। चञ्चलता से अवयव अवयव में घूमता है। यदि साकार में मन स्थिर हो सकता तो संसारी पदार्थों में ही हो जाता। निराकार में मन की दौड़ समाप्त हो जाती है।

२—मन्दिरों में धन का अपव्यय होता है।

३—स्त्री पुरुषों का जमघट होने से लड़ाई झगड़ा व्यभिचार रोग आदि होते हैं।

४—मूर्तिपूजक मूर्ति पूजा को सर्वस्व मान बैठता है और उसकी उन्नति नहीं होती।

५—नाना देवताओं की नाना प्रकार की मूर्तियाँ होने से नाना प्रकार के विचार और भावनाएँ होकर ऐक्य नष्ट होता है।

६—प्रायः शत्रु आदि के आक्रमण से बचने के लिये मूर्ति का भरोसा भूल से करते हैं और पीछे पछताते हैं।

७—मूर्ति पूजक नाना स्थानों की मूर्तियों के लिये यत्र तत्र भटकते फिरते और दुःख उठाते हैं।

८—पुजारी धन का दुरुपयोग करते हैं जिससे दाता को भी पाप होता है।

९—मूर्तियों के नष्ट होने पर चुराई जाने या तोड़े जाने पर रोते हैं।

१०—जड़ का ध्यान करने वालों की बुद्धि भी जड़ हो जातीहै

११—पुष्पादि पदार्थों को जलादि में डालकर सड़ाते हैं जो दुर्गन्ध का कारण होता है।

मूर्ति पूजा वेद विहित न होने तथा वेद विरुद्ध होनेसे पाप है

"मूर्तिपूजा सीढ़ी नहीं किन्तु एक बड़ी खाई है जिसमें गिर कर चकनाचूर हो जाता है पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता उसी में मर जाता है। हाँ छोटे छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगियों के संग से सद्विद्या और सत्य भाषणादि परमेश्वर प्राप्ति की सीढ़ियाँ हैं"

"मूर्ति पूजा ब्रह्म की प्राप्ति में स्थूल लक्ष्यवत् नहीं किन्तु धार्मिक विद्वान् और सृष्टि विद्या है।"

"मूर्त्ति गुड़ियों के खेलवत् नहीं किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास सुशिक्षा का होना गुड़ियों के खेलवत् ब्रह्म प्राप्ति का साधन है"

ईश्वर की उपासना के सम्बन्ध में अवतारवाद बहु देवता वाद व मूर्तिपूजा आवश्यक प्रश्न हैं। इस निबन्ध में अवतार वाद व मूर्त्तिपूजा के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालने का उद्योग किया गया है बहु देवतावाद पर वेद सम्बन्धी विवेचना में प्रकाश डाला जावेगा। परन्तु अभी इस प्रश्न के दो आवश्यक अंग और हैं पहला ईश्वर उपासना की लौकिक उपयोगिता व दूसरा ईश्वर के सम्बन्ध में भ्रम मूलक प्रचलित विचार। चाहे वह वर्तमान पश्चिमी जगत् में हों; चाहे भारतवर्ष में वैदिक शिक्षा के

लोप होने के पश्चात् से; हमारा अभिप्राय महाभारत युद्ध के पश्चात् से है।

लौकिक उपयोगिता

ऋषि दयानन्द ने ईश्वरोपासना को मनुष्यों के जीवन का अंग माना है और पञ्च महायज्ञों में इसका सबसे प्रथम स्थान है। और इसके विपरीत साधारण जनता इस सम्बन्ध में बहुत उदासीन है। जो ईश्वर में विश्वास नहीं रखते उनका तो कहना ही क्या। बहुत से ईश्वर में विश्वास रखने वाले ऐसे हैं जो ईश्वर प्रार्थना व उपासना की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। यह मानते हैं कि यदि हमारा जीवन किसी मर्यादा पर चल रहा है तो हमको किसी रीति रिवाज या प्रार्थना की विधि की आवश्यकता नहीं है हमारी सम्मति में यह महान् भूल है और बड़े से बड़े सुधारक यदि इस ओर से उदासीन हैं तो हम उनको इस दृष्टिकोण से ठीक रास्ते पर नहीं समझ सकते। मर्यादा निश्चित करने के लिये एक आदर्श की आवश्यकता है और आदर्श की स्थापना के लिये एक आदर्श शक्ति की आवश्यकता है। मनमानी मर्यादाएँ स्थापित प्रथम तो हो नहीं सकतीं और यदि हो जाएँगी तो क्षणिक होंगी और एक देशीय होंगी। प्राणी मात्र के लिये कुछ मर्यादाओं का सामान्य होना आवश्यक है और यह समानता बिना किसी भेद भाव के ईश्वर के आधार पर ही निश्चित हो सकती है। अन्तर्जातीय व अन्तर राष्ट्रीय मर्यादाएँ व सार्वभौम मर्यादाएँ केवल एक ईश्वर के आधार पर स्थिर की जा सकती हैं बहुधा ऐसा होता है कि पूर्व से प्रचलित मर्यादाएँ वंश परम्परा या शिक्षा से किसी समाज में प्रचलित होती हैं और उनके अनुसार चलकर मनुष्य अपना नाम चलाते रहते हैं और साधारणतया उनको इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती कि यह मर्यादा

कब से कहां से और किस से स्थापित हुई। यही दशा आजकल के सुधारकों की है। सैकड़ों बल्कि लाखों आदमी बुखार में कुनैन से लाभ उठाते हैं और उनको इस बात की कभी चिन्ता नहीं होती कि कुनैन से क्यों लाभ होता है और यह लाभ पहुंचाने की विधि किसने चलाई। इसलिये धार्मिक जगत् के प्रचलित मत भेद से दुःखित होकर अनेक ऐसे मनुष्य हैं जो धार्मिक चर्चा करना या ईश्वर की प्रार्थना इत्यादि करने को व्यर्थ समझते हैं उनका जो सामाजिक लक्ष्य है अर्थात् राष्ट्र या समाज की उन्नति या स्वराज प्राप्त करना उसमें लगे हुए हैं और बहुत अंशों में उनका यह व्यवहार क्षमा योग्य भी है। परन्तु वास्तविकता से वह दूर हैं और ईश्वर की आराधना से अव-हेलना कभी नहीं की जा सकती। जो ऋषि और दूरदर्शी हैं उन्होंने सदाचार की वृद्धि के लिये भी सबसे अधिक बल आस्तिकता ईश्वर विश्वास व ईश्वर की प्रार्थना उपासना और स्तुति पर दिया है। ईश्वर भक्ति सत्पुरुषों के जीवन का आव-श्यक अंग है और प्रत्येक मनुष्य जो वास्तविक उन्नति के पथ पर चलना चाहता है उसको ईश्वर के गुण जानने चाहिये और नित्य प्रति उन गुणों का गान करना चाहिये और अपने जीवन को उस सांचे में ढालना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य दूसरे से यह आशा करता है कि वह उसके लिये न्यायकारी दयालु और प्रेमी होगा। न्याय, दया और निष्पक्ष प्रेम का आधार ईश्वर के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। हमारे प्रत्येक कार्य के लिए चाहे व्यक्ति गत उन्नति के सम्बन्ध में हो या सामाजिक संगठन के ईश्वर की उपासना की विधि का अनुसरण करना अनिवार्य है।

पाप और उसके गुप्त रखने की भावना

जिन विचारों को हम पाप मय समझते हैं या जिन कर्मों को हम पाप समझते हैं उनको गुप्त रखने की हमारे अन्दर

स्वभाविक इच्छा होती है। Sin और secreory का घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि गुप्त रखने के भाव हमारे हृदय के अन्दर से मिट जावें तो पाप की मात्रा स्वयं मिट जावेगी। जब कोई आदमी पाप करने के लिये मन में संकल्प करता है या उस ओर पग बढ़ाता है तो यह मन में ठीक या गलत धारणा कर लेता है कि वह उस कर्म के फल से बच जावेगा और तब उस पाप मय कर्म को करने का साहस करता है। चोर चोरी करने उस समय चलता है जब वह यह प्रबन्ध कर लेता है कि अपने चातुर्य या बल से पकड़ने वालों के हाथ नहीं आएगा और राज कर्मचारियों के सम्मुख यह सिद्ध नहीं हो पावेगा कि वह चोर है। यदि पकड़ने व सजा पाने का रुपये में १६ आने निश्चय हो तो चोरी नहीं करेगा। मन में लालसा भले ही किया करे यदि यह निश्चय हो जावे कि ऐसी पक्की खुफिया पुलिस है कि मन की बात भी उस से छिपी नहीं रहेगी तो मन को भी चोरी के विचारों से परे रक्खेगा। अदालत में रिश्वत लेने वाले हाकिम या पुलिस से छिप कर रिश्वत लेते हैं कपड़ा वेचने वाला ग्राहक की आँख छुपा कर कम नापता है और इसी प्रकार तोलने वाला कम तोलता है। व्यावहारिक दृष्टि से जिन व्यवहारों से हमें व दूसरों को कष्ट होता है और जो पाप समझे जाते हैं उन सब में छिपने छिपाने की बात लगी हुई है। शराब पीना हो जुआ खेलना हो या दुराचार करना हो।

पाठकों ने कभी यह विचार किया कि दिवाली पर खुल्लम खुल्ला जुआ क्यों ज्यादा होता है वह इसलिये कि कुछ एक भ्रम फैला हुआ है कि दिवाली पर जुआ नहीं पकड़ा जाता इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे अन्दर इस बात का अभ्यास हो कि हमारे सब कर्मों का द्रष्टा व उनका फल दाता एक ऐसा महान् शक्ति वाला राजा है जो बिना किसी

गुप्तचर के हमारे मन की वाणी की व कर्मों की सब बातें जान लेता है और जिसको न कोई धोखा दे सकता है और जिसके लिये न कोई सिफारिश है। ऐसी शक्ति की सत्ता का दृढ़ अनुभव सदाचार व जीवन की सफलता की कुंजी है और यह अभ्यास केवल ईश्वर उपासना से ही प्राप्त हो सकता है। लोक की शक्ति समाज का बल राजा की शक्ति मित्रों का विचार ये भी सब प्रभाव रखने वाली शक्तियां हैं पर इन सब के साथ इनसे बचने के उपाय लगे हुए हैं चाहे वह वकालत की शक्ल में हो या न हो या सिफारिश की या रिश्वत की इसलिये हमें मोक्ष प्राप्ति का चाहे ध्यान हो या न हो इस लोक में सुख और आनन्द से रहने के लिये ईश्वर प्रार्थना करने की महान आवश्यकता है।

ईश्वर सर्व शक्तिमान है

सर्व शक्तिमान—"सर्व शक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति पालन प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथा योग्य व्यवस्था करने में किञ्चित भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण लेता है" "जो स्वाभाविक नियम अर्थात् जैसा अग्नि उष्ण जल शीतल और पृथिव्यादि सब जड़ों को विपरीत गुणवाले ईश्वर भी नहीं कर सकता और ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं इसलिये परिवर्तन नहीं कर सकता।"

(अष्टम समुल्लास)

इसी सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है मनुष्यों की लोक में सौदा करने की वृत्ति है वह कुछ देकर लेना चाहते हैं। धार्मिक जगत् में भी यह व्यौपार वह बहुधा चलाना चाहते हैं और जब उन्हें इस विचार से दुःख होता है कि उनके पाप कर्मों का फल अवश्य मिलेगा तो उससे बचने की स्कीम कभी तोबा

की सोचते हैं और कभी प्रायश्चित की कभी दान की और कभी किसी गुरु के दामन को पकड़ कर पार होना चाहते हैं और धार्मिक दुनियां में गुरुओं व पार लगाने वालों का इसीलिए बोल बाला और बाज़ार गर्म है। इसलिये हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ईश्वर सर्व शक्तिमान है जिसका यह अभिप्राय है कि वह अटल नियमों के अनुसार काम करता है और कर्मों का फल अवश्य देता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह सर्व शक्तिमान है चाहे तो पाप भी क्षमा करदे। इस भयंकर भूल ने अनेक मतमतान्तर प्रचलित कर दिये और करोड़ों मनुष्यों को भ्रम में डाल दिया।

गुरुडम पाप है

इसीलिये ऋषि दयानन्द ने गुरु परम्परा की बहुत निन्दा की और जनता को इसके भयंकर परिणाम से सचेत किया है। बहुधा लोग यह प्रश्न करते हैं कि बड़े बड़े पढ़े लिखे बी. ए. और एम. ए. शास्त्री व काव्यतीर्थ नामधारी गुरुओं के पंजे में कैसे फंस जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं उनकी शिक्षा लोक के लिये उपयोगी है परन्तु परलोक सम्बन्धी बातों में वे बहुधा अज्ञानी ऐसे ही होते हैं जैसे कि एक अशिक्षित और यह प्रसिद्ध कहावत है कि डूबते को एक तिनके का सहारा बहुत है। हर ओर से निराश होकर यदि किसी गुरु का पग पकड़ले जो उनको पार लगाने का आश्वासन दे तो कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु भूल अवश्य है। यदि विचार की दृष्टि से देखा जावे तो यह बात स्पष्ट हो जावेगी कि जब से आर्य जाति के अन्दर से एक ईश्वर की पूजा की प्रथा जाती रही यह जाति अनेक प्रपंचों में फँस गई। ज़ादू टोना और झूठी भक्ति उलटे जप और तप सब इसका ही परिणाम है। इसलिये इन कुप्रथाओं को मिटाने के

लिये भी ईश्वर उपासना की ठीक विधि के प्रचार और अभ्यास की आवश्यकता है।

नियम के साथ दण्ड

नियम के साथ नियम पालन करने का प्रश्न है और नियम पालन करने के लिये एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है जो उसको पालन कराने का बल रखता हो। Law requires a sanction and the greatest sanction is the sanction of human heart संसार के जितने नियम हमारे लिये उपयोगी हैं और उनके पालन कराने के लिये शक्ति की आवश्यकता है तो वह शक्ति ईश्वरीय भण्डार से ही प्राप्त हो सकती है। परमात्मा की Sanction के सन्मुख और सारी शक्तियां निर्बल और अछूती रह जाती है।

वैदिक त्रैतवाद

इस निबन्ध के आरम्भ में हमने तर्क के आधार पर यह सिद्ध करने का उद्योग किया कि इस संसार की पहेली तभी समझ में आ सकती है जब हम तीन पदार्थ अनादि मानें अर्थात् ईश्वर जीव और प्रकृति। ईश्वर सम्बन्धी विवेचना इस निबन्ध में की गई है। जीव और प्रकृति कीतत्सम्बधी निबन्धों में की जावेगी। यहां यह लिखना आवश्यक है कि परमात्मा उस समय तक ही परमात्मा माना जा सकता है जब जीव और प्रकृति उसके साथ अनादि मान लिये जावें। ईश्वर गुणी है और गुणी की सत्ता उसके विशेष गुणों के साथ आश्रित रहती है। यदि परमात्मा न्यायकारी है तो जीव भी होने चाहिये जिनके साथ न्याय करे। यदि कोई देश या काल ऐसा मान लिया जावे जहां और जब जीव उपस्थित न हों तो उस समय ईश्वर के सब गुण उपस्थित होंगे सिवा न्यायकारी के। इसी प्रकार यदि वह सृष्टि का रच-

यिता है तो सृष्टि या प्रकृति अनादि काल से उपस्थित होनी चाहिये। इस विचार को ऋषि दयानन्द ने इन शब्दों में प्रकट किया है।

"(प्रश्न) कभी सृष्टि का प्रारम्भ है वा नहीं (उत्तर) नहीं, जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि अनादि काल से चक्र चला आता है इसका आदि वा अन्त नहीं किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि अन्त होता रहता है क्योंकि जैसे परमात्मा जीव जगत् का कारण तीन स्वरूप से अनादि है जैसे जगत् की उत्पत्ति स्थिति और वर्तमान प्रवाह से अनादि है जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है कभी सूख जाता कभी नहीं दीखता फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता ऐसे व्यवहारों को प्रवाह रूप जानना चाहिये। जैसे परमेश्वर के गुणकर्म स्वभाव अनादि हैं वैसे ही उसके जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करना भी अनादि हैं जैसे कभी ईश्वर के गुणकर्म स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं इसी प्रकार उसके कर्तव्य कर्मों का आरम्भ और अन्त नहीं" सत्यार्थ प्रकाश ८ वां समुल्लास।

यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वैदिक त्रैतवाद के न मानने से संसार में अनेक प्रकार के भ्रम प्रचलित हुए। कुछ ऐसे फिलासफ़र हैं जिन्होंने संसार की पहेली को केवल एक परमात्मा की सत्ता को मानकर सुलझाना चाहा है उनमें से कुछ ऐसे हैं जो जीव को या तो प्रकृति का विकसित रूप मानते हैं या परमात्मा का Devolved (विकृत) रूप। पश्चिमी philosophy

में ईश्वर सम्बन्धी Theories या वाद निम्न भाँति विभाजित किये जाते हैं।

इन वादों के तीन मुख्य विभाग हैं।

(अ) Monism अर्थात् (एकत्ववाद)

(ब) Dualism (द्वित्ववाद)

(स) pluralism (बहुत्ववाद)

फिर इन तीनों विभागों के अन्तर्गत और विभाग आते हैं।

(अ) Monism तीन प्रकार का है।

१—Abstract monism २—Conditional monism और Concrete monism (ब) Dualism द्वित्ववाद दो प्रकार का है।

१—Absolute Dualism निर्विशेष।

२—Conditional Dualism सविशेष।

(स) Pluralism भी दो प्रकार का है।

१—Materialistic Pluralism जिसे Atomism भी कहते हैं।

२—Spritualistic Pluralism या जिसे Monadism भी कहते हैं। (आत्मिक बहुत्ववाद)

इन सब वातों की विवेचना तो संक्षेप से आगे की जायगी। उनसे विदित होगा कि ये सारे वाद केवल वैदिक त्रैतवाद के ही ठीक न समझने और उसके प्रचलित न रहने के कारण उत्पन्न हुए भारतीय दर्शनों के विस्मृत और भ्रान्त विचारों को लेकर ही पश्चिमीय दर्शन का उदय हुआ है। अब उपरोक्त विवादों में से एक एक को लेकर संक्षिप्त विवेचना आरंभ करते हैं।

Monism

जो विद्वान इस संसार की पहेली को केवल एक सत्ता मान कर हल करना चाहते हैं वे Monist अर्थात् केवल एक ईश्वर

की सत्ता मानने वाले कहलाते हैं। और उनका सिद्धांत monism एकत्ववाद कहलाता है।

एक ईश्वर की सत्ता के अतिरिक्त इस संसार में अल्पज्ञ जीव और परिमित सत्ता वाले पदार्थ भी दृष्टिगोचर होते हैं। और केवल एक ईश्वर के मानने वालों को यह भी सिद्ध करना आवश्यक है कि इस संसार में अल्पज्ञ प्राणी और रूप बदलने वाले पदार्थ क्यों उपस्थित हैं और उनका एक ईश्वर की सत्ता से क्या संम्बन्ध है। इस प्रश्न का उत्तर तीन प्रकार से दिया जाता है। और उन्हीं उत्तरों को दृष्टि में रखकर एकतावाद के अन्तर्गत तीन भिन्न भिन्न वाद प्रचलित हुए।

Abstract monism

इस विचार के लोग इस हद तक पहुँच जाते हैं। कि वे इन समस्त प्रचलित पदार्थों में भी केवल एक ही की सत्ता को वास्तविक मानते हैं। और शेष को केवल माया या एक ही सत्ता के केवल बाह्य दृष्टि से दीखने वाले रूप। इनका कहना है कि ये सारा संसार अर्थात् यह जड़ चेतन जगत्, केवल भ्रम या मिथ्या है। इसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं। इस वाद का पश्चिम में सबसे प्रसिद्ध प्रचारक Spinoza है। इस वाद में बहुत भूल है। जिसको हम चार प्रकार से प्रकट कर सकते हैं।

(अ) केवल एक ईश्वर को मानने का परिणाम Panthesim होता है। क्योंकि केवल परमात्मा की ही सत्ता रह जाती है और और जड़ चेतन जगत् में जो स्वतंत्र सत्तायें है उनके लिये कोई स्थान नहीं रहता।

(ब) इसका परिणाम Acosmism अर्थात् सारे जगत का कोई प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि जब ये जगत की सत्ता ही नहीं मानते तो उसके प्रयोजन का कहना ही क्या है।

(स) इसमें मायावाद फैलता है। क्योंकि वे सारे जगत् को या संसार को केवल मिथ्या सिद्ध करता है।

(इ) इससे सदाचार के सिद्धांत को वा जीव के स्वतंत्रकर्त्ता होने के सिद्धांत पर आघात पहुँचता है। क्योंकि जब ये ईश्वर के अतिरिक्त किन्हीं अन्य जीवों की सत्ता नहीं मानता तो उनके स्वतंत्र कर्त्ता होने का कोई प्रश्न नहीं रहता और फिर कर्म का सिद्धांत और सदाचार की आवश्यकता नहीं रहती इसी कारण से नवीन वेदांत के प्रचार से भारतवर्ष में अकर्मण्यता उत्पन्न हो गई।

Conditional Monism

इस विचार वाले स्वतंत्र सत्ता तो एक केवल ईश्वर को मानते हैं। परन्तु यह स्वीकार करते हैं कि इस सत्ता के अतिरिक्त और भी संसार में सत्तायें हैं। जिनकी सत्ता वास्तविक है परन्तु ये सब अन्य सत्तायें केवल उसी एक सत्ता से उत्पन्न हुई हैं। ये वाद Conditional monism इसलिये कहलाता है, क्योंकि ये एक ईश्वर को स्वतन्त्र सत्ता और बाकी सब को उससे निकली हुई मानता है यह दोनों प्रकार की सत्ताओं को वास्तविक मानता है परन्तु अनेक की उत्पत्ति एक से मानता है जैसे पहले विभाग वाले अनेक से एक की उत्पत्ति मानते हैं, वे यह मानते हैं कि इस संसार के सब अन्य पदार्थ जीव और निर्जीव ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं। इसमें भी बहुत भूल है।

१—ईश्वर जगत् के बिना केवल एक मानी हुई शक्ति है या एक विचारों का समूह है। जिसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं रहती। जगत की सत्ता ईश्वर की सत्ता के लिए अनिवार्य है। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनों का एक साथ अनादि होना आवश्यक है। केवल एक ईश्वर अर्थात् एक अनेक के बिना भ्रममूलक विचार है। हमने इस निबन्ध के आरम्भ में यह सिद्ध

करने का उद्योग किया है कि ईश्वर के गुण जितने हैं वे या तो जड़ जगत् के संवन्ध में या चेतन जगत् के सम्बन्ध में हैं। और गुण गुणी के आश्रित ही रहते हैं यदि कोई ऐसे प्राणी न हों जिनके साथ न्याय करना है तो ईश्वर में न्याय का गुण भी न रहेगा और जहाँ तक इस गुण का संवन्ध है ऐसे गुण रखने वाली सत्ता भी भ्रम में पड़ जायगी।

२—अगर यह मान लिया जाय कि ईश्वर ने इस सारे जगत को नास्ति से उत्पन्न किया और फिर इसको स्वतंत्र छोड़ दिया और केवल कभी कभी इसे नाश से बचाने के लिये हस्तक्षेप करता है। तो ईश्वर की दशा भी एक मनुष्य रूपी कारीगर की सी होगी। और उसे भी अल्पज्ञ मानना पड़ेगा। और उसके साथ ही यह सिद्धांत भी भली भाँति सिद्ध हो चुके हैं कि नास्ति से कोई अस्तित्व उत्पन्न नहीं हो सकता और इस सारे जगत् की उत्पत्ति केवल एक ईश्वर से माने तो इसमें ईश्वर के गुण सर्वथा पाये जाने चाहिये इसको आनन्दमय और परिवर्त्तनशील होना चाहिये जैसा कि यह नहीं है।

Conorete monism

यह उपरोक्त दोनों विचारों के बीच का मार्ग है और दोनों के कुछ कुछ अंग लेकर आगे चलता है। जिस प्रकार Abstract monism केवल एक की सत्ता को मानता है और अनेक की सत्ता को मिथ्या मानता है और Conditional monism एक और अनेक दोनों की वास्तविक सत्ता मानता है परन्तु एक को अनादि, स्वतन्त्र और स्वयमादि सत्ता मानता है, दूसरे को अर्थात् अनेक को एक पर आश्रित व सामयिक वा उत्पन्न हुआ मानता है Abstraot monism अनेक एक में समा जाते हैं Conditional monism में दोनों साथ साथ चलते हैं इन दोनों के अतिरिक्त Cono rete morism के अनुसार न अनेक एक में समाते हैं न एक अनेक में.

परन्तु दोनों एक उच्च पदार्थ के साथ साथ रहने वाले अंग हैं जो कि न केवल एक विचार में आने वाली एकता है या केवल विचार में आने वाली अनेकता परन्तु वह दोनों की सत्ता को वास्तविक मानता है। ये एक और अनेक को एक दूसरे से पृथक और बाहर नहीं मानता परन्तु यह मानता है कि अनेक की सत्ता एक की सत्ता को पूर्ण बनाने के लिये हैं। यह सारा जगत् ईश्वर के वैभव को दर्शाने के लिये है। इस वाद के अनुसार ईश्वर और जगत् दोनों की सत्ता वास्तविक है ये एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकते, दोनों अनादि हैं जगत् ईश्वर की सत्ता के लिये आवश्यक अंग हैं। इस जगत् के द्वारा ही ईश्वर अपना परिचय देता है और अपनी महान् शक्तियों को उपयोग में लाता है और यह जगत् भी बिना ईश्वर के आधार के रह नहीं सकते। इस संसार रूपी पहेली का अंतिम ध्येय ईश्वर ही है।

यह अंतिम वाद केवल नाम मात्र के लिये Monism है। इसमें त्रैतवाद वा द्वैतवाद अंतर्भूत है। यह ईश्वर और जगत् दो सत्ताओं को अनादि मानता है यदि जगत् के अब दो विभाग ले लें—जड़ और चेतन अर्थात् परमाणु और जीव तो तीनों ही सत्ता माननी पड़ेगी और त्रैतवाद सिद्ध होगा।

Dualism द्वैतवाद

इस सिद्धांत के अनुसार संसार में दो अनादि सत्तायें हैं जो दोनों अपनी सत्ता स्वतन्त्र रूप से रखती हैं और जो एक दूसरे पर आश्रित नहीं है।

इसके भी दो रूप हैं:—

Absolute Dualism पूर्ण द्वैत

इस वाद के अनुसार संसार के दो मुख्य सिद्धांत है जिनका एक दूसरे पर कोई सहारा नहीं है अर्थात् एक पुण्य का सिद्धांत दूसरा पाप का सिद्धांत। ये केवल द्वैतवाद का प्रचार प्लेटो और

अरस्तू वा सुकरात ने किया है। प्लेटो के विचार के अनुसार पुण्य का विचार और प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ताय इस संसार में ऐसे पदार्थ हैं जो अंतिम रूप से सिद्ध होते हैं। पुण्य का भाव ऐसे एक जगत् का विकास चाहता है जो सर्वांगपूर्ण और सुन्दर हो। परन्तु प्रकृति की सत्ता उसमें बाधक है और इसी से पाप वा अपूर्णता संसार में आजाती है। अरस्तू के विचार के अनुसार परमात्मा ही सर्वांगपूर्ण कर्म का कर्त्ता है और प्रकृति सर्वात्मना निष्क्रिय है। इन दोनों के ही संघर्ष से संसार में पाप या त्रुटि उत्पन्न होजाती है। Absolute Dualism का ही दूसरा नाम Mechanism है जिसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा ने जगत् को पूर्व से उपस्थित प्रकृति से उत्पन्न किया।

Conditional Dualism

इस वाद के अनुसार ईश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत और ईश्वर दोनों की सत्ता वास्तविक और स्वतन्त्र है परन्तु परमात्मा हर प्रकार से स्वतन्त्र और अनादि है और जगत् अपनी सत्ता और स्वतन्त्रता परमात्मा से प्राप्त करता है अर्थात् यह पैदा किया हुआ है, अल्पकालीन है।

वास्तव में Conditional Dulism Conditional Monism का दूसरा नाम है। इस वाद में भी बहुत भूल है। केवल द्वैतवाद से संसार की पहेली हल नहीं हो सकती। केवल ईश्वर और प्रकृति की सत्ताओं को मानना पर्याप्त नहीं है। इनका पारस्परिक संघर्ष इस बात का द्योतक है कि इस संघर्ष को मर्यादा में रखने के लिये और इनको मिला कर काम करने के लिये एक तीसरी उच्च शक्ति की आवश्यकता है और इससे एक तीसरी महान् शक्ति की आवश्यकता सिद्ध होती है।

उपरोक्त दोनों प्रकार के द्वैतवाद में से कोई सा प्रकार क्यों न हो वह परमात्मा की अल्पज्ञता सीमित सिद्ध करता है, क्यों

कि इसमें यह विचार अंतर्भूत है कि प्रकृति उसके अंदर बाधा उत्पन्न कर देतीहै। इस द्वैतवाद के सिद्धांत में भी वही भूल है जो केवल एक सत्ता मानने के सिद्धांत में है। तीन भिन्न भिन्न सत्ताओं की आवश्यकता दोनों से सिद्ध होती है।

Pluralism बहुसत्तावाद

बहुसत्तावाद उपरोक्त दोनों वादों से बिल्कुल भिन्न है। उसकी धारणा है कि न केवल दो सत्तायें हैं वल्कि अनेक स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले पदार्थ हैं। इसके दो विभाग हैं—

Materialistic Pluralism

Atomism इसको कट्टर परमाणुवाद कह सकते हैं, इसके अनुसार यह जगत् प्रकृति के स्वतन्त्र परमाणुओं के आकस्मिक मिलने से बन गया है, उनमें गति भी अपने आप आ गई और इस सारे विश्व में स्वयं ही फैल गये हैं, यह जीव और मन इस प्रकृति के ही उत्पन्न हुए पदार्थ हैं। इस बात के मानने वाले ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते, इसलिये इसको बहुसत्तावाद का नास्तिक रूप कह सकते हैं, इसमें निम्न लिखित भूलें हैं :—

१—बहुत से स्वयं स्थिति रखने वाले और स्वतंत्र पदार्थ अपने आप मिल कर जगत् की उत्पत्ति के कारण नहीं बन सकते।

२—परमाणुवाद बहुत कुछ आकस्मिक घटनाओं पर आश्रित है, केवल आकस्मिक रूप में मिल जाने से इस जगत् में वह नियम सुन्दरता, प्रयोजनसिद्धि और संयोग सिद्ध नहीं हो सकते, जो हमें प्रत्यक्ष रूप से इस संसार में दिखाई देते हैं, इस जगत् में जो कुछ परिवर्त्तन या रूप धारण होता है वह किसी विशेष लक्ष्य की सिद्धि के लिये हैं।

३—परमाणुवाद का आश्रय प्रति क्रिया (inter-action)

के सिद्धांत पर बहुत निर्भर है और इसके मानने में मनोविज्ञान आदि की बहुत-सी कठिनाइयां हैं।

४—यह वाद सब कुछ मान कर चलता है, सिद्ध कुछ नहीं करता। यह परमाणुओं को स्वयं स्थिति रखने वाला मान लेता है, उनमें गति भी अपने आप उत्पन्न होना मानता है और देश व काम की उपस्थिति भी अपने आप मान लेता है।

५—परमाणुवाद प्रकृतिवाद का एक रूप है अर्थात् जड़वाद का और जितने आक्षेप जड़वाद पर हो सकते हैं, वे सब इस पर भी हो सकते हैं, उदाहरण के लिये यह वाद यह सिद्ध नहीं कर सकता कि इस संसार में Life या सजीवता कहां से आ गई, क्यों कि यह तो अपने आप सजीवता का उत्पन्न होना मानता है, जिसका वर्त्तमान वैज्ञानिक खोज में प्रबल रूप से खंडन किया है,

६—यह चैतन्यता के लिये भी कोई हेतु उपस्थित नहीं करता, चैतन्यता हमारे मस्तिष्क या brain की केवल एक गति नहीं मानी जा सकती, यह तो एक पृथक् शक्ति है, जो मस्तिष्क से उत्पन्न नहीं होती बल्कि जिसके आधार पर मन और अन्य सारी इन्द्रियां कार्य करती है।

७—इस वाद के अनुसार हमारे अन्दर जो सदाचार-सम्बन्धी भावनायें हैं वे भी सिद्ध नहीं होतीं, जब तक हम जीव को स्वतंत्र कर्त्ता मानेंगे उस समय तक ही हम सदाचार या पाप और पुण्य के भावों पर बल दे सकते हैं। यदि हम अपने मन या अपनी चेतनता को केवल प्रकृति का एक विकसित रूप मान लें तो जीव का एक स्वतंत्र कर्त्ता का प्रश्न नहीं रहता और सारे ज्ञानकांड व कर्मकांड का अंत हो जाता है।

८—ज्ञान की उत्पत्ति भी इस से सिद्ध नहीं होती, और इसकी युक्तियां चक्करदार हैं। यह प्रकृति को मन और भावों के

शब्दों में समझाने का यत्न करता है और मन को प्रकृति के शब्दों में, यह सारा भ्रम मन और प्रकृति को अथवा mind और matter को एक मानने से होता है।

Spiritualistic Pluralism.

इसे हम आत्मवादी बहुसत्तावाद कह सकते हैं, इस वाद के अनुसार संसार में वास्तविक व आरंभिक सत्ताएँ वे हैं जिन्हें हम आत्मिक सत्तायें कह सकते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा इस जगत् में अविकसित या मूर्छित अवस्था में उपस्थित रहते हैं और अनुकूल परिस्थिति मिल जाने पर उनमें उन्नति या विकास उत्पन्न हो जाता है, ये आत्मा अपनी सत्ता स्वतंत्र रखती हैं और एक दूसरे के आश्रित नहीं हैं, वे इस प्रयोजना सिद्ध जगत् को एक दूसरे से प्रतिक्रिया के आधार पर उत्पन्न नहीं करते परन्तु उनके अन्दर अपने आप विकास उत्पन्न होता है और उनके अन्दर उस आज्ञा के आधार पर भी जो ईश्वर ने सृष्ट्युत्पत्ति के समय निश्चित की है एक दूसरे से समानता और एकता उत्पन्न हो जाती है। इस वाद वाले कम से कम सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की सत्ता को मानते हैं और इसलिये इसको आस्तिक बहुसत्तावाद कह सकते हैं। इसमें भी बहुत भूलें हैं :—

१—बहुसत्तावाद चाहे परमाणुवाद के रूप में हो या आत्मवाद के रूप में हो, इस बात के सिद्ध करने में असमर्थ है कि किस आधार पर इस संसार में स्वतंत्र सत्ता रखने वाले पदार्थ एक दूसरे से मिल गये और एक नियम में चलने वाला प्रयोजन-सिद्ध जगत् बन गया। बहुसत्तावाद संसार की सुन्दरता तथा इसका एक मर्यादा में बँधा होना सिद्ध नहीं करता।

२—आत्मवादी बहुसत्तावाद इस बात को मान कर चलता है कि सृष्टि के आरम्भ में या सृष्टि के इस रूप में आने से पहले

किसी अन्य शक्ति ने इसकी इस समानता को निश्चित कर दिया परन्तु कैसे कोई इसका उत्तर देंगे।

३—जो आक्षेप केवल एक ईश्वर के मानने में उत्पन्न होते हैं सब आत्मवादी बहुसत्तावाद में लागू हैं। यदि आप प्रकृति को स्वतन्त्रसत्ता न मान कर केवल उसको आत्मा का ही एक रूप मानें तो ज्ञान की उत्पत्ति व अज्ञान की उपस्थिति सिद्ध होना असंभव हो जाता है, क्योंकि ज्ञान शब्द से अभिप्राय यही है कि दो स्वतंत्र सत्तायें मानी जाय, एक ज्ञान रखने वाला और एक वह जिसके विषय में ज्ञान रखा जाय अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की आवश्यकता है, इनको हम Subject और Object विषयी और विषय Self and the not self आत्मा और अनात्मा और mind or matter चेतन जीव और प्रकृति के नाम से कह सकते हैं।

हमने इन वादों की विवेचना करते हुए यह देखा कि वैदिक त्रैतवाद के न मानने से कितने भ्रमसूलकवाद प्रचलित हो गये किसी ने एक माना, किसी ने दो माने और किसी ने अनेक। यह सारी विषमता दूर हो सकती है यदि हम प्रकृति जीव और ईश्वर तीनों को स्वतंत्र व अनादि सत्ता में माने और उनके आपस का सम्बन्ध समझ लें।

इस संसार की पहेली को हल करने वाले ऊपर जिन वादों का उल्लेख किया गया है उनका सम्बन्ध एक रूप में जीव व प्रकृति सम्बन्धी निबधों से भी है परन्तु इन वादों के आधार पर ईश्वर सम्बन्धी जो भिन्न २ विचार संसार में प्रचलित हैं उनको भी संक्षेप से आगे दिया जाता है।

संसार सम्बन्धी सिद्धान्तों से ईश्वर सम्बन्धी सिद्धांतों का घनिष्ट सम्बन्ध है और ईश्वर सम्बन्धी विचार भी उपरोक्त तीनों

प्रकारों में विभाजित किये जा सकते हैं अर्थात् एकेश्वरवाद, द्वैतवाद और अनेकेश्वरवाद, हम इस विचार को Kulpe के शब्दों में इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं, "The various Theological Belief arepretty closely related to the more general Metaphysical theories.

Theism ordinarily goes along with Spiritualism or dualism. Pantheism has an affinity to monism, and Atheism is a natural consequence of materialism." इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर सम्बन्धी भिन्न भिन्न धार्मिक सिद्धान्त विज्ञान के भिन्न भिन्न वादों पर आश्रित हैं। आस्तिकवाद आत्मवाद और द्वैतवाद से सम्बन्धित है। एक ब्रह्मवाद एक सत्तावाद पर आश्रित है और नास्तिकवाद प्रकृतिवाद का स्वाभाविक परिणाम है।

हम अपने समझने के लिये ईश्वर संबंधी विचार रखने वालों को दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं एक नास्तिक दूसरे आस्तिक अर्थात् Atheism or Theism। नास्तिकवाद चार रूप से प्रचलित है।

१—Dogmatic Atheism कट्टर नास्तिकवाद;

२—Sceptical Atheism संशयवादी,

३—Critical Atheism तार्किक नास्तिक,

४—Practical Atheism व्यावहारिक नास्तिक,

नास्तिकवाद का आधार यह है कि यह जगत् प्रकृति और गति से मिलकर बना है और इसका कोई चेतन आदिमूल नहीं है, यह नास्तिकवाद विज्ञान में जो प्रकृतिवाद है यह उसका धार्मिक जगत् में परिमाण है, अब इसके ऊपर दिये हुए चार विभागों की संक्षिप्त विवेचना करते हैं।

I. Dogmatic Atheism

यह परमात्मा की सत्ता को किसी प्रकार भी स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

3. Sceptical Atheism

इसको संशयवाद या अज्ञेयवाद भी कह सकते हैं। इस विचार के रखने वाले ईश्वर की सत्ता का निषेध नहीं करते, परन्तु यह इनकी धारणा है कि अल्पज्ञ मनुष्य ईश्वर की सत्ता को जान नहीं सकता।

3. Critical Atheism

ये न तो ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हैं और न इस बात का निषेध करते हैं कि मनुष्य अपनी बुद्धि से ईश्वर को जान सकता है, परन्तु इनका यह कहना है कि ईश्वर की सत्तातर्क से सिद्ध नहीं होती।

4. Practical Atheism

व्यावहारिक नास्तिक वे हैं जिनकी धारणा यह है कि ईश्वर के होने, न होने का हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, बिना ईश्वर में विश्वास रखे हुए भी हम अपने जीवन को अधिक से अधिक सुखमय व सफल बना सकते हैं। ईश्वर को मानने व न मानने की आवश्यकता नहीं है।

नास्तिकवाद आज तक ईश्वर की सत्ता के निषेध में सफल नहीं हुआ है। यह ईश्वर की सत्ता के संबन्ध में अधिक से अधिक संशय उत्पन्न कर सकता है, परन्तु इसके निषेधात्मक विचार निराधार हैं। नास्तिकवाद प्रकृतिवाद का दूसरा रूप है। और जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है, केवल प्रकृति को मानने से संसार रूपी पहेली हल नहीं हो सकती, इसके नियम, प्रयोजन, मर्यादा, सुन्दरता, जीव की स्वतंत्रता, पाप पुण्य की विवेचना सब असिद्ध रह जाते हैं।

Theism

यह नास्तिकवाद का उल्टा है, परन्तु केवल ईश्वर की सत्ता मानने से ही कोई वास्तविक रूप से आस्तिक नहीं समझा जा सकता। आस्तिकता ईश्वर संबन्धी विचारों पर आश्रित है। हम ईश्वर को मान सकते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि कौन से गुण रखने वाले ईश्वर को हम मानते हैं और यह भी प्रश्न है कि हम कितने ईश्वर मानते हैं—एक को दो को या अनेक को।

उपरोक्त विचारों से आस्तिकवाद निम्नलिखित विभागों में विभाजित किया जा सकता है—

१—Monotheim—एकेश्वरवाद।

२—Detheism—द्वैश्वरवाद।

३—Polytheism—अनेकेश्वरवाद।

फिर इनके भी अन्तर्गत और विभाग हैं। सब से पहले हम Monotheism या एकेश्वरवाद को लेंगे। इस वाद वाले एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हैं परन्तु एक ईश्वर में विश्वास रखने वालों में भी कई भेद हैं, उस एक ईश्वर के गुणों के संबंध में भेद है और इस बात में भेद है कि उस एक ईश्वर का संसार के अन्य जीव व अन्य पदार्थों से क्या संबन्ध है। उपरोक्त संबन्ध को दृष्टि में रखते हुए एक ईश्वर को मानने वालों में भी कई विभाग हो गये हैं—

१—Deism।

२—Theism।

३—Pantheism।

४—Panentheism।

Deism

इस वाद वालों का कहना है कि परमात्मा अनादिकाल से अकेला उपस्थित है और जगत् नहीं था। किसी एक समय में

उस एक ईश्वर ने नास्ति से जगत् की उत्पत्ति करदी और उसमें आवश्यक गति व शक्ति उत्पन्न करके चलने के लिये छोड़ दिया और अब यह संसार अपने आप उसी शक्ति के आधार पर जो परमात्मा ने सृष्टि-रचना के समय प्रदान की थी चल रहा है, परन्तु अब वे शक्तियाँ गौण कारणों में से हो गई हैं। जब संसार का नाश होने लगेगा, परमात्मा हस्ताक्षेप करेगा और उसको ठीक कर देगा। सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व ईश्वर था, सृष्टि न थी और सृष्टियुत्पत्ति के पश्चात् ईश्वर अपने आपको इस संसार से हटा देगा। इसमें निम्नलिखित भ्रम हैं:—

१—यह सृष्टि-रचना का एक विशेष समय मानता है और उससे पूर्व केवल कारणरूप ईश्वर की सत्ता को मानता था और और इसके नाश होने के पश्चात् भी केवल ईश्वर की सत्ता मानता है। यह भूल है, ईश्वर की सत्ता सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व और उत्पत्ति के पश्चात् और नाश के पश्चात् भी एक सी रहती है।

२—यह मुख्य और गौण कारणों में विना कारण के भिन्नता प्रकट करता है। यह एक स्थान में ईश्वर की सत्ता को मुख्य कारण मानता है और फिर विना विशेष कारण के और विना कोई हेतु दिये ही उसी दैविक शक्ति को गौण कारण समझने लगता है। यद्यपि दैवी शक्तियाँ सदैव एक समान हैं।

३—यह इस बात में विश्वास रखता है कि ईश्वर कभी कभी जब उसका जी चाहे संसार को नाश से बचाने के लिये संसार के प्रबन्ध में हस्ताक्षेप करता है और इससे चमत्कार के या करामात सम्बन्धी विचार फैलते हैं जिससे अज्ञान की वृद्धि होती है।

४—ईश्वर को सृष्टियुत्पत्ति के पश्चात् संसार से पृथक मान लेने में बड़ी हानि है। ईश्वर की शक्ति का वह प्रभाव जो नित्य-

प्रति हमारे सामने रहना चाहिए वह नहीं रहता। इन त्रुटियों के अतिरिक्त इस वाद के सम्बन्ध में कई प्रश्न उपस्थित होते हैं।

१—यदि ईश्वर ने किसी विशेष समय में सृष्टि की रचना की तो इसका क्या कारण था? क्या इसके बिना वह अधूरा था।

२—यह वाद ईश्वर को और उसकी शक्तियों को भिन्न भिन्न मानता है, क्या गुण कभी गुणी से अलग हो सकता है? ईश्वर की शक्ति ईश्वर के सदैव साथ और दोनों ही अनादि हैं और दोनों साथ साथ काम करेंगे। गुणों को गुणी से पृथक मान लेना न केवल तर्क के विरुद्ध है प्रत्युत गुणों की सत्ता को भी भ्रम में डाल देता है।

३—क्या इस वाद के मानने वाले परमात्मा को ऐसे कारीगर के समान नहीं मानते जिसको समय समय पर अपनी बनाई मशीन की मरम्मत की आवश्यकता पड़ती है। यदि सृष्टि की रचना ईश्वर ने ही की है तो उसको सदा त्रुटियों से रहित रहना चाहिए।

४—ईश्वर को किसी समय में भी इस संसार से पृथक मान लेने में क्या ईश्वर की सर्वव्यापकता में बाधा नहीं होती? क्योंकि यदि किसी समय में भी कोई स्थान ऐसा हो जहाँ ईश्वर की सत्ता न हो तो ईश्वर सर्वव्यापक नहीं रहेगा।

५—यदि यह माना जायगा कि कोई समय भी ऐसा था जब इस सृष्टि की रचना नहीं हुई थी तो ईश्वर के वे गुण जो सृष्टि रचना के सम्बन्ध के हैं उस समय वे गुण भी न रहेंगे। परमात्मा सर्वदा है, यदि किसी समय में कोई ज्ञेय पदार्थ नहीं थे तो ज्ञान किसका था।

२—Theism।

३—Pantheism सम्बन्धी विचार बहुदेववाद और बहु-सत्तावाद के प्रतिक्रिया के स्वरूप में उत्पन्न हुए—बहुदेववाद का

विश्वास है कि बहुत से देवता हैं जो प्रकृति के भिन्न २ विभागों पर राज्य करते हैं, Pantheism एक ईश्वर की सत्ता को मानता है और उसको इस संसार से भिन्न नहीं मानता। बहुसत्तावाद में इस सारे संसार में जो एक शक्ति सारी शक्तियों के अन्तर्गत काम कर रही है और जो इसको एक तार में पिरो देती है उसकी अवहेलना की गई है, Pantheism में भिन्न भिन्न स्वतन्त्र सत्ताओं को दृष्टि में नहीं रखा गया और केवल एक पर बल दिया है। बहुसत्तावाद में एकता को अनेकता की वेदी पर बलिदान कर दिया गया है और Pantheism अनेकता को एकता की वेदी पर। इस सिद्धान्त के अनुसार सब परमात्मा हैं और परमात्मा ही सब हैं जिसको हम 'एकोब्रह्म द्वितीयोनास्ति' के सिद्धाँत से संबोधन करते हैं।

यह ईश्वर और जगत को एक ही मानता है केवल ईश्वर की वास्तविक सत्ता है और इस संसार के अन्य प्राणी व पदार्थ केवल भ्रम हैं और माया है इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं, ईश्वर स्वयम्भू है और उसकी शक्तियाँ उसके लिये पर्याप्त हैं। उसे किन्हीं अल्पशक्ति वालों की आवश्यकता नहीं, यह अनेक शक्ति वाला जगत् अकस्मात उत्पन्न हुआ, और न इसकी कोई आवश्यकता है। सदैव रहने वाली शक्ति केवल परमात्मा की है। यह सिद्धाँत Acosmism के सिद्धाँत से मिलता है अर्थात् यह संसार की रचना को निष्प्रयोजन सिद्ध करता है, यह Deism से भी बिल्कुल पृथक है। Deism ईश्वर को जगत् से बिल्कुल पृथक करता है, यह उसे बिल्कुल मिला देता है, Daism के अनुसार ईश्वर रचना के पश्चात जगत् से पृथक रहता है और इस सिद्धाँत के अनुसार ईश्वर की कोई पृथक सत्ता ही नहीं रहती।

इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर और जगत को एक मान लेने से बड़ा भ्रम पैदा होता है, न जगत् की कोई आवश्यकता रहती

है और न ईश्वर की कोई विशेषता और इससे यह भी सिद्ध नहीं होता कि यह रचना हुई कब। ईश्वर जगत् से भिन्न यदि न माना जाय तो ईश्वर की सत्ता ही समझ में नहीं आ सकती। यह सिद्धांत सारे जगत् को केवल माया बताता है जो बात समझ में नहीं आ सकती। इस सारे ब्रह्मांड को हम माया कह कर टाल नहीं सकते और फिर वह कौन है जो इसको केवल माया समझता है और वह क्या है जो माया समझी जाती है। ईश्वर और जगत् को एक ही मान लेने से प्रकृतिवाद का रूप उत्पन्न हो जाता है, इस सिद्धांत से हमारी चेतनता और हमारे स्वयं अपनी सत्ता के सम्बन्ध में जो विचार हैं उन पर आघात पहुँचता है। हम चेतन हैं हम अपनी सत्ता अनुभव करते हैं और हमारा जो जगत् से सम्बन्ध है उसको भी अनुभव करते हैं। यह सिद्धांत हमारे इन सब मानों को कुचलता है। इस सिद्धांत से हमारी व्यक्तिगत स्वतंत्रा भी जाती है कर्म का सिद्धांत मिट्टी में मिल जाता है और पाप व पुण्य की विवेचना नष्ट हो जाती है। यदि मनुष्य की आत्मा ऐसी महान शक्ति केवल माया है तो सारे विज्ञान पर पानी फिरता है। यह सिद्धांत भी एक प्रकार की नास्तिकता ही है। केवल भेद इतना है कि इसमें कुछ धार्मिक झलक है और कम से कम एक ईश्वर की सत्ता का स्मरण कराती है।

Pantheism

संसार में अनेक मत-मतान्तर ईश्वर सम्बन्धी विचारों में भिन्नता के कारण प्रचलित हुए। भिन्न २ मतों में ईश्वर के सर्व व्यापकता और सर्व शक्तिमान् और सर्वज्ञ आदि ईश्वर के गुणों के सम्बन्ध में मतभेद हैं और इसी के आधार पर ईश्वर सम्बन्धी भिन्न विचार प्रचलित होगये हैं। Pantheism से अभिप्राय यह है कि परमात्मा इस सृष्टि से ऊपर भी है और इस सृष्टि में

भी रमा हुआ है। दूसरे शब्दों में परमात्मा में सब है परन्तु सब परमात्मा नहीं। Stephon ने इस भेदको अपने शब्दों में यों प्रकट किया है—It is more correct to say that all things are in God (Panentheism) than that God is outside of things (Deism) of that God is the whole of things (Pantheism) इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर और सीमित शक्ति वाला जगत् और अल्पज्ञ प्राणी न एक दूसरे से पृथक और न एक दूसरे से बिल्कुल मिले हुए हैं। उनका संबन्ध एकता और विभिन्नता का एक सुन्दर मिश्रण है। यह जगत् और अल्पज्ञ प्राणी ईश्वर के सम्बन्ध में अपनी वास्तविक सत्ता रखते हैं इस कारण से कि सृष्टि शक्ति की रचना के बिना या ईश्वर को उस शक्ति के बिना जिससे ईश्वर इस सारे जगत् को धारण किये हुए है और इसको विकास प्रदान करता है, ईश्वर वास्तविक ईश्वर न रहेगा और परमात्मा की सत्ता भी इस संसार के सम्बन्ध में वास्तविक हैं, क्योंकि बिना उस महान् शक्ति के इस संसार की उत्पत्ति, वृद्धि व धारणा नहीं हो सकती।

Theism

पश्चिमी जगत् में ईश्वर सम्बन्धी विचारों में एक विशेष प्रकार का विचार है इसको हम अपने वैदिक आस्तिकवाद से एक नहीं समझ सकते। Pantheism Deism के प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ, इसी प्रकार Theism Pantheism के विरुद्ध उत्पन्न हुआ, Deism ने ईश्वर को जगत् से ऊपर और परे माना और Parian ने ईश्वर को और जगत् को एक ही मान लिया। Deism और Pantheism के झगड़ों का आधार यह है कि ईश्वर संसार से परे है या संसार में पूर्ण रूप से व्यापक है, Pantheism के अनुसार यह जगत् ईश्वर में समा जाता है जो उसमें रमा हुआ है तो इतनी आपत्ति उत्पन्न नहीं होती परन्तु

जब इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य की आत्मा अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती तो महान् हानि होती है, इससे हमारे सदाचार सम्बन्धी विचारों पर आघात पहुंचा है। कोई धर्म का सिद्धांत ऐसा नहीं जिससे जीव का स्वतन्त्र कर्त्ता होना श्रेष्ठतर सिद्धान्त न होता हो। Martiniaun मार्टिन्यू ऐसे पश्चिमी विद्वानों ने Theism का एक नया वाद प्रचलित किया, 'God is Eminent in the world but not in the finite minds" अभिप्राय यह है कि परमात्मा जड़ जगत् में तो परिपूर्ण है परन्तु अल्पजीवों में नहीं। इसके अनुसार अल्पजीव ईश्वर से पृथक और उसके बाहर है और कर्म करने में स्वतन्त्र है और परमात्मा उससे ऊपर है। यह सिद्धांत यह भी सिद्ध करता है कि अल्प प्राणियों को ईश्वर उत्पन्न कर देता है और फिर कर्म करने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देता है। यह विचार विचित्र है। जब एक प्रकार के तर्क से ठेस लगी तो आधा भ्रम दूर किया और आधा स्थिर रक्खा जो भूल Pantheism ने जड़ और चेतन जगत् के सम्बन्ध में की थी वह इसने जड़ जगत् के सम्बन्ध में की और चेतन जगत् के संबंध में उस भूल को ठीक नहीं किया। इस सिद्धांत के तीन मुख्य अंग हैं—

१—ईश्वर जगत् में व्याप्त है और इस सारी रचना की शक्ति उसकी दैविक शक्ति है।

२—ईश्वर की शक्ति इस रचना में व्याप्त होकर ही समाप्त नहीं हो जाती। उसकी असीमित शक्तियां इस सीमित जगत् में समाप्त नहीं हैं, वे इससे भी परे हैं।

३—ईश्वर जगत् से परे भी है और उसमें रमा हुआ भी है। परन्तु अल्पज्ञ जीवों से परे है जिससे उनकी स्वतन्त्रता नष्ट न हो। इसक जीव सम्बन्धी विचार अत्यन्त भ्रम मूलक हैं। यदि जीवों को किसी समय में भी ईश्वर के प्रभाव से भिन्न मान लेंगे

तो हमें ईश्वर की शक्ति की सीमा माननी पड़ेगी और ईश्वर भी सीमा वाला हो जायगा। यह केवल जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता मानने के लिये ईश्वर की शक्ति पर धब्बा लगाना है वास्तविक बात यह है कि ईश्वर जीव में व्याप्त होते हुए भी उनकी स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करता। वे कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, परन्तु फल भोगने में नहीं। यदि यह वैदिक सिद्धांत उनके सामने होता तो मार्टिन्यू ऐसे प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान ऐसे भूल न करते और एक भ्रम-मूलकवाद न चलाते। जीव ईश्वर की महान् शक्तियों में अपनी स्वतन्त्रता से बाधा नहीं डाल सकता और न ईश्वर के सर्वज्ञ सर्वव्यापक व कर्म फलदाता होने से जीव को स्वतन्त्र सत्ता में बाधा आती है। ईश्वर और जीव का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है, राजा और प्रजा का सम्बन्ध है। उसकी स्वतन्त्रता इस रचना की स्वतन्त्रता है और ईश्वर की महान शक्ति इसको परिपूर्ण बनाती है।

Dualism

Dethaism और Dualistic conception of God—दो ईश्वरों में विश्वासः—

इस संसार की सुन्दरता और एकता को देख कर एक ऐसे ईश्वर का पता चला है जो इसको धारण किये हुए है और जो इसकी वृद्धि का कारण है। परन्तु कुछ विचार वालों के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि इस संसार का रचयिता एक सर्वांगपूर्ण दयालु ईश्वर है तो इसमें यह दुःख अशांति, पाप और त्रुटियां कहां से आ गई। इससे तो ईश्वर की पूर्णता में अपूर्णता आती है। उनके विचार में केवल एक ईश्वर के मानने से इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त नहीं होता। इसलिये उन्होंने यह माना कि संसार में दो भिन्न भिन्न और साथ-साथ चलने वाली दो शक्तियां हैं—एक पुण्य की तरफ ले जाने वाली और दूसरी

पाप की तरफ ले जाने वाली और इन दोनों शक्तियों में सदैव संघर्ष रहता है और वे दो रक़ीब (प्रतिद्वंदी) खुदाओं में। इस वाद का मुख्य सिद्धान्त है ईरान के प्राचीन निवासी दो प्रतिद्वंदी ईश्वरों में विश्वास रखते थे पुण्य का स्रोत अहुरमज्द और पाप का स्रोत अहर्मन और इन दोनों के संघर्ष के कारण इस संसार में पाप और दुःख पैदा हो गया है। ईसाई और मुसलमानों में भी कुछ इससे ही मिलते-जुलते विचार हैं। शैतान की मानने की आवश्यकता इनको इसी कारण से हुई। यह सिद्धान्त अत्यंत भ्रम मूलक है। इनके सामने जीव को स्वतंत्र सत्ता का ज्ञान नहीं था इसलिये ये भ्रम में पड़े। यह सिद्धान्त तर्क की अपेक्षा रूढ़िवाद पर अधिक आश्रित है। इससे इस संसार का एक प्रकार का के नियमों में बँधे होना सिद्ध नहीं होता। ये यह भूल जाते हैं कि दो स्वतंत्र विरोधी शक्तियों के मानने से न संसार की रचना हो सकती थी और न संसार का कार्य ही चल सकता था। उन दोनों को अपने अपने आधीन रखने के लिये एक तीसरी शक्ति के मानने की आवश्यकता होगी और तभी सुंदर प्रयोजन सिद्धजगत् की रचना सिद्ध हो सकेगी।

अनेकेश्वरवाद Poly theism

विकास वादी ईश्वर सम्बन्धी विचारों में इसको सब से प्रथम स्थान देते हैं और पश्चिमी विद्वान् आस्तिकवाद में सब से प्रथम इसकी विवेचना करते हैं। हमारी धारणा इससे विपरीत है। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार एक ईश्वर की सत्ता में विचार सब से अधिक प्राचीन और उच्चतम है। जब वैदिक धर्म का ह्रास हुआ तो एक ईश्वर के स्थान में दो या अधिक ईश्वरों की मानता होने लगी। विकासवादी या कुछ अन्य पश्चिमी विद्वान् अनेकेश्वरवाद की उत्पत्ति इस प्रकार मानते हैं कि मनुष्य जब तक

उनको विकसित ज्ञान न था जीव और गति में भेद नहीं जानते थे। उन्होंने जहां गति व शक्ति देखी उसी को चैतन्य मानने लगे और देवता का स्थान देकर पूजने लगे। अग्नि, जल वायु नदी और पहाड़ों की पूजा इसी प्रकार चली। Herbert spencer का मत है कि मृतक की पूजा से बहुदेववाद का प्रचार हुआ, यह विचार फैला कि हमारे पूर्वज मरने के पश्चात् दरियाओं तारागणों या जंगलों में रहते हैं और हम उनके इस आधार पर पूजने लगे। इस सिद्धान्त को Humanism भी कहते हैं अर्थात् दैविक शक्तियों को पुरुष का रूप देना। Max muler का कहना है कि अनेकेश्वरवाद रूढ़िवाद से चला हमारे पूर्वज अज्ञानतावश दरिया और पहाड़ इत्यादि को आदरणीय मान कर पूजने लगे और फिर उनको ईश्वर का स्थान दे दिया। इसके दो रूप हैं—

Animism
Spiritism

Animism

इसको Hylozoism भी कहते हैं इसके अनुसार जड़ और चेतन का भेद नहीं रहता। इस वाद के अनुसार सारा जगत् जीवन युक्त है। जहां जीवन है वहां गति है। यह ठीक और प्रचलित सिद्धान्त है परन्तु इन्होंने इससे यह कुतर्क निकाला कि जहां गति है वहाँ भी प्राण और चेतनता अवश्य होगी। यदि उनके सामने यह वैदिक सिद्धान्त होता कि जड़ जगत् में चेतन ईश्वर निमित्त कारण बन कर गति उत्पन्न करता है तो वे इस भूल को न करते,

Spiritism

इससे पहले वाद के अनुसार तो केवल यह गलती हुई कि कुदरत की जड़ शक्तियों को हमने चेतन समझा परन्तु आगे चल कर यह गलती और भी दृढ़ हो गई और एक एक दैनिक

शक्ति का एक एक पृथक् देवता हमने मान लिया। पहले Motion या गति को life या जीवन समझा फिर उसी को आत्मा को समझ बैठे। अब तो वृक्षों के देवता हैं, समुद्र के देवता है, सूर्य को देवता है और चंद्रमा का देवता है और ये सब देवता एक दूसरे से प्रथक और स्वतंत्र हैं। दुःख इस बात का है कि पश्चिमी विद्वान इस अज्ञान की पराकाष्ठा को ज्ञान का आरम्भ मानते हैं। उनके पूर्वजों का इतिहास बहुधा ऐसी घटनाओं से आरंभ होता है और इसलिये उनमें ऐसे वाद फैले। महाभारत के युद्ध के पश्चात् जब भारतवर्ष के निवासी अन्य देशों में जाकर बसे तो अपने साथ भ्रमभूलक सिद्धान्तों को भी लेते गये। हमारे निबन्ध का यह विषय नहीं। परन्तु प्यारे पाठक इस विषय पर उत्तम प्रमाण वा युक्तियां पढ़ना चाहें तो उनको महाशय रघुनन्दन शर्मा रचित 'वैदिक संपति' नामक प्रसिद्ध पुस्तक है विचारपूर्वक पढ़नी चाहिए।

ईश्वर का जीव और प्रकृति से सम्बन्ध

इस निबन्ध के आरंभ में हमने ईश्वर का जीव और प्रकृति से सम्बन्ध दर्शा दिया है। यह प्रकृति इस संसार की रचना में उपादान कारण है इसका प्रयोजन जीवात्मा को भोग की सामग्री और भोग का क्षेत्र उपस्थित करना है। ईश्वर प्रकृति का रचयिता और जीवों के फलों का दाता है। हम यों ही कह सकते हैं कि जीव और प्रकृति के संबंध को ईश्वर अपनी आज्ञा के अनुसार मर्यादा में रखता है और इनके संबन्ध को ठीक रखना ही भोगवाद की मीमांसा है।

ईश्वर क्या है ?

ऋषि दयानन्द ने अपने मन्तव्यामन्तव्यों में ईश्वर की विवेचना इस प्रकार की। ईश्वर जिसके कि ब्रह्म, परमात्मा आदि

नाम हैं, जो सच्चिदानन्द आदि लक्षण युक्त हैं;जिसके गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ निराकार, सर्व व्यापक, अजन्मा, अनंत, सर्व शक्तिमान् दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जनों का कर्मानुसार, सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षण युक्त हैं उसी को परमेश्वर मानता हूँ।

हम ईश्वर के मुख्य मुख्य गुण निम्न प्रकार वर्णन कर सकते हैं

१—ईश्वर इस सृष्टि का आदि मूलत्व सबसे प्रथम कारण है

२—ईश्वर ज्ञान का स्रोत है।

३—ईश्वर निराकार सर्व व्यापक, स्वयंभू और अपने सब कार्यों में स्वतन्त्र है। संसार की कोई शक्ति उसकी शक्ति में बाधा नहीं उपस्थित कर सकती है।

४—ईश्वर अनन्त और अनादि है।

५—ईश्वर इस संसार में प्रेम, सुंदरता, निष्पक्षता का उच्च तम आदर्श है। वह चेतन और सदा आनन्द मय रहने वाला और सर्वज्ञ है।

ईश्वर की सिद्धि में भिन्न २ प्रकार की युक्तियां

ईश्वर को सिद्ध करने के लिये निम्न प्रकार की युक्तियां दी जाती हैं—

1. Cosmologial arguments अर्थात् सृष्टि रचना से युक्ति।

2. Teleological arguments

3. moral arguments

4 outological orguments

१. Cosmologicol arguments यह जगत् कार्य रूप प्रतीत होता है। इसका कोई कारण होना चाहिए, क्योंकि संसार में कोई कार्य विना किसी कारण के दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिये हम कार्य कारण से सम्बन्धकी श्रृंखला यदि मिलाते जायं तो अंतिम

व आदि कारण तक पहुँच जायंगे। इस युक्ति को Casual argument भी कहते हैं।

2. Teleological arguments

इस जगत् में न केवल कार्य-कारण संबंध प्रतीत होता है, इसकी रचना एक चेतन बुद्धिमान शक्ति से होना सिद्ध होती है। इसकी रचना में नियम है और नियमों से निर्माता का पता चलता है और कारीगरी से कारीगर का।

3. Moral arguments

पाप और पुण्य संबंधी विचार हमारे आत्मा के अंदर स्वाभाविक है और हम आनन्द की खोज में रहते हैं। इस स्वाभाविक वृत्ति के समाधान के लिये एक उच्चतम आदर्श रखने वाली शक्ति की आवश्यकता है। प्रसिद्ध दार्शनिक कांट के शब्दों में हम इसे यों प्रकट कर सकते हैं "There must be a supreme being God who will reward virtue with happiness & punish vice with pain in a Future life" अर्थात् एक महान् शक्ति वाले ईश्वर की आवश्यकता है जो पुण्य के उपलक्ष में आनन्द और पाप के बदले दंड की व्यवस्था करे। इस कर्म के जगत् को जहां कर्म और उनके फलों की विवेचना होती है इस जगत् में एक उच्च तम आदर्श रखने वाले निष्पक्ष अधिपति की आवश्यकता है।

4. Ontological arguments

इस युक्ति का आरम्भ हमारे मस्तिष्क के अंदर है, और हमारे अंदर एक गुप्त ऐसी धारणा है कि हमारी तृप्ति मनोविज्ञान की दृष्टि से उस समय नहीं हो सकती जब तक हम एक ऐसी शक्ति पर विश्वास न करें जो हम से अधिक चेतन, अधिक सुखी और सदैव रहने वाले न हों। इस युक्ति की विवेचना Anselm Descarte Hegal ने विस्तार पूर्वक की है और इन सब का यह

कहना है कि यदि मनुष्य संसार भर में और अपनी सब अवस्थाओं में अपने से अधिक महान् शक्ति में विश्वास रखता है और उसका तर्क उसको ऐसा विश्वास रखने के लिये विवश करता है तो ऐसी शक्ति की सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी। ऐसे स्वाभाविक ज्ञान को हम भ्रम कहकर नहीं टाल सकते। इन युक्तियों के अतिरिक्त ईश्वर संबंधी विवेचना में जो शंकायें उत्पन्न की जाती हैं उनकी भी गणना इस निबंध में संक्षेप में की जाती है, परन्तु उन शंकाओं से पूर्व ऋषि-कृत 'आर्योद्देश्य रत्नमाला' में से एक उद्धरण हम और देना चाहते हैं। ऋषिकृत ग्रन्थों में से ईश्वर संबंधी विवेचना करने वाले वाक्य यहां उद्धृत करना चाहते हैं, जिससे ऋषि दयानन्द के विचार हमारे सम्मुख स्पष्ट रूप से आ जावें। सत्यार्थ प्रकाश सातवें सम्मुलास में ऋषि ने ईश्वर का लक्षण इस प्रकार बताया—

"जो सब दिव्यगुण कर्म-समाज विद्या युक्ति और जिसमें पृथ्वी सूर्य्यादि लोक स्थित हैं और जो आकाश के समान व्यापक सब देवों का देव है वह परमेश्वर है।"

पृष्ठ ११२ स० प्र० शताब्दी संस्करण, चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा है जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हैं, किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।·········यह उनकी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से महादेव इसलिये कहलाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय कर्त्ता, न्यायाधीश; अधिष्ठाता है। इन तेंतीस से देवों का स्वामी और सबसे बड़ा होने से परमात्मा ३४ वां उपास्य देव शतपथ के १४ वें कांड में स्पष्ट लिखा है·········

ईश्वर सब को उपदेश करता है कि हे मनुष्यो मैं ईश्वर सब के पूर्व विद्वान्, सब जगत् का पति हूँ। मैं सनातन जगत का कारण और सब धनों का विजय करने वाला

और दाता हूँ। मुझ ही को सब जीव जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं वैसे पुकारें। मैं सब को सुख देने हारे जगत् के लिये नाना प्रकार के भोजनों का व्यवहार पालन के लिये करता हूँ।

पृष्ठ ११४ पर ऋषि ईश्वर की सिद्धि सब प्रतिज्ञादि प्रमाणों से मानते हैं—"इन्द्रियों और मन के गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणों का नहीं। त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श रूप, रस और गंध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथ्वी है उसका आत्मा युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है। वैसे इस पृथक् सृष्टि में रचना-विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।............बुरे काम करने में भय शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्द उत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है और जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या संदेह है क्योंकि कार्य को देख के कारण का अनुमान होता है।"............

दयालु और न्यायकारी 'न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हो। वही दया कहाती है जो पराये दुखों का छुड़ाना है......"

'ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके......मन में सब को सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है और बाह्य चेष्टा अर्थात् बंधन-छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सब को पाप और दुःखों से पृथक् कर देना।"

ईश्वर निराकार है "जो साकार होता तो व्यापक न होता; तथा शीत, उष्ण, क्षुधा, तृष्णा और राग, द्वेष, छेदन-भेदनादि से रहित नहीं हो सकता।······जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आँख आदि अवयवों का बनाने हारा दूसरा होना चाहिये क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करने वाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये। जो कोई वहाँ ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने से पूर्व निराकार था। इसलिये परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता किन्तु निराकार होने से सब जगत् के सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है।"

ईश्वर सर्वशक्तिमान है—स० प्र० पृ० ११५ श० सं० 'सर्वशक्तिमान शब्द का एक ही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति पालन, प्रलयादि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनंत सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है। जो काम ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव के विरुद्ध हैं वह नहीं कर सकता, जैसे अपने को मारना अनेक ईश्वर बनाना इत्यादि।

ईश्वर इच्छा क्या है ? ईश्वर सब की भलाई और सबके लिये सुख चाहता है, परन्तु स्वतंत्रता के साथ किसी को बिना पाप किये पराधीन नहीं करता

ईश्वर स्तुति प्रार्थना के प्रयोजन।

(स्तुति करने वाले के साथ नियम को छोड़कर कोई रियायत नहीं हो सकती)

"स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना प्रार्थना से निरभिमानता

उत्साह और साहाय्य का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।......" "जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्त्तन करता जाता और अपने अपने चरित्र नहीं सुधारता उसकी स्तुति करना व्यर्थ है।

स. प्र. श. सं. पृ. ११७—"जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उसको वैसा ही वर्ताव करना चाहिए अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना, उसके लिये जितना अपने प्रयत्न हो सके उतना किया करे अर्थात् पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है।

पृ. ११८—"......परमेश्वर भी सब के उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, कारक कर्म में नहीं, उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है। अष्टांग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वांतर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो जो काम करना होता है वह सब करना चाहिए।

पृ. ११९ ईश्वर का कर्त्तव्य—

इंद्रियां न होने पर भी सामर्थ्य मात्र से इंद्रियो के कार्य करता है। ईश्वर निष्क्रिय नहीं, क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और प्रलयकर्त्ता है; हां, उसमें स्वयं विकार नहीं होता चेतन होने से क्रिया-शील है: और उसमें अनंत ज्ञान अनंत बल और अनंत क्रिया वाली सामर्थ्य स्वाभाविक है।

ईश्वर का ज्ञान

"परमात्मा अपना अंत नहीं जानता, क्योंकि वह अनंत है यथार्थ ज्ञानी जैसे को वैसा जानता है।"

पृ. १२१—ईश्वर अवतार धारण नहीं करता

पृ० १२३ क्या ईश्वर त्रिकालदर्शी है ?

"ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है, क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल है और जो न होके होवे वह भविष्यत् काल कहाता है। क्या ईश्वर का कोई ज्ञान होके नहीं रहता अथवा न होके होता है ? इसलिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एक रस, अखंडित वर्त्तमान रहता है।.........जैसे स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है।"

पृ० १२६ सगुण निर्गुण का अर्थ

"ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है, भिन्न भिन्न गुणों की अपेक्षा से। सगुण का अर्थ साकार और निर्गुण का अर्थ निराकार करना भूल है।"

ईश्वरीय इच्छा से अभिप्राय

"इच्छा सामान्यतया अप्राप्त वस्तु की सुख विशेष के लिये नहीं होती, जो ईश्वर में नहीं बटती। सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना ईक्षण कहाता है।

आर्योद्देश्य रत्नमाला

१-ईश्वर—जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य हैं जो केवल चेतन मात्र वस्तु है। तथा जो अद्वितीय, सर्वशक्तिमान, निराकार सर्वव्यापक अनादि और अनन्तादि सत्य गुण वाला है और जिसका स्वभाव अविनाशी ज्ञानी, आनन्दमय शुद्ध न्यायकारी दयालु और अजन्मा आदि है, जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन, और विनाश करना तथा सर्व जीवों को पाप-पुण्य के फल ठीक ठीक पहुँचाना है उसको ईश्वर कहते हैं।

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है ।

२—ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम सर्वाधार, सर्वेश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर अमर, अभय नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है । उसी की उपासना करना योग्य है ।



विश्व की पहेली

[भाग २]

जीवात्मा

ईश्वर सम्बन्धी विवेचना के साथ-साथ जीवात्मा की विवेचना भी अत्यावश्यक है। यदि हम अपने को नहीं जानते तो ईश्वर को भी नहीं समझ सकते और न इस जगत् को ही समझ सकते हैं। ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को समझ लेना और जीव और जगत् के सम्बन्ध को समझ लेना ही इस संसार की पहेली को हल करना है।

हमने ईश्वर-सम्बन्धी विवेचना में यह देखा कि ईश्वर के वैदिक स्वरूप को भूल कर कितने भ्रमसूलक वाद प्रचलित होगये। यही हाल जीवात्मा के सम्बन्ध में है। जब जीवात्मा का वास्तविक वैदिक स्वरूप जनता के सम्मुख न रहा तो बहुत से मनगढ़न्त विचार जीव के सम्बन्ध में भी फैल गये और इसका बड़ा भयंकर परिणाम हुआ।

जीवात्मा के विषय पर दो प्रकार से विचार हो सकता है। एक यह कि वैदिक सिद्धान्त इसके सम्बन्ध में प्रकट किया जाय और तत्पश्चात् पश्चिमी जगत् में जो वाद इस सम्बन्ध में हैं, दर्शाये जाँय।

जीवात्मा के विषय के साथ-साथ जीवन और मृत्यु का प्रश्न भी घनिष्ठरूप से सम्बन्धित है और इन दोनों की भी विवेचना आवश्यक होगी। इन्हीं के साथ पूर्वजन्म व आवागमन का

सिद्धान्त भी सम्बन्धित है। इस मृत्यु और जीवन के चक्कर से बचना परमावश्यक है। और इसी का नाम मोक्ष है।

धार्मिक जगत् के लिये मोक्ष का विषय एक भूल भुलैयाँ से कम नहीं है। मोक्ष का स्वरूप अनेक विचित्र रूप से माना जाता है और उसके प्राप्ति के साधन भी बड़े-बड़े आश्चर्यजनक हैं। इन सब की संक्षिप्त विवेचना भी करनी होगी इसलिये इस निबन्ध में उपर्युक्त सब प्रश्नों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा।

जीव का वैदिक स्वरूप

वैदिक सिद्धांत में जीव सम्बन्धी निम्नलिखित विशेषताएं हैं:—

१—जीव एक स्वतन्त्र व अनादि सत्ता है।

२—यह अल्पज्ञ है और सुख-दुख के चक्कर में रहता है।

३—यह ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार शरीर धारण करता है और यह जगत् उसके कर्म का क्षेत्र है।

४—ईश्वर इसके भोग को मर्यादित रखता है और इस सारे भोग की व्यवस्था उसके आधीन है।

५—प्रकृति से इसमें विशेषता यह है कि यह चेतन है और प्रकृति जड़।

६—ईश्वर से इसमें वह भिन्नता है कि ईश्वर परमानन्दमय है, इसमें आनन्द की कमी है। ईश्वर सर्वव्यापक, यह एकदेशीय है। ईश्वर सर्वज्ञ, यह अल्पज्ञ है, जीव और ईश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

७—ईश्वर और जीव दोनों निराकार हैं। ईश्वर जीव से अति सूक्ष्म हैं।

ऋषि दयानन्द की जीव सबन्धी विवेचना

"जीव और ईश्वर दोनों चेतन स्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का

पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सबको नियम में रखना, जीवों के पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति उनका पालन, शिल्पविद्यादि अच्छे बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्य ज्ञान, आनन्द, अनन्य बल आदि गुण हैं और जीव के—इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्ग मिति न्याय सूत्र [अ० अ० १। सू० १०]

प्राणापाननिमेषोन्मेषमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्चात्मनोलिङ्गानि ॥ वैशेषिक सूत्र [अ० ३। अ० २। सू० ४]

(इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा (द्वेष) दुःखादि को अनिच्छा वैर (प्रयत्न) पुरुषार्थ बल (सुख) आनन्द (दुःख) विलाप अप्रसन्नता (ज्ञान) विवेक पहिचानना ये तुल्य हैं परन्तु वैषेसिक में (प्राण) प्राणवायु को बाहर निकालना (अपान) प्राण को बाहर से भीतर को लेना (निमेष) आँख को मीचना (उन्मेष) आँख को खोलना (मन) निश्चय स्मरण और अहङ्कार करना (गति) चलना (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों का चलाना (अन्तरविकार) भिन्न-भिन्न क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादियुक्त होना ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है।"

इसके अतिरिक्त जीव की स्वतन्त्रता व परतन्त्रता के विषय में ऋषि ने निम्न वाक्य लिखे हैं:—

"जीव स्वतन्त्र है व परतन्त्र ? अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। "स्वतन्त्रः कर्ता" यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है वही कार्य है।"

इस स्वतंत्रता और परतंत्रता के विषय के साथ ही पश्चिमी दर्शन का Doctrine of free will and self-determination, का सिद्धान्त संबंधित है, जिसकी व्याख्या इस निबंध में उचित स्थान पर की जावेगी।

ऋषि के मन्तव्य और अमंतव्यों में से तीन मन्तव्य अर्थात् ४—५—६ जीव संबंधी हैं उनका उल्लेख भी आवश्यक है :—

४—जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को "जीव" मानता हूँ।

५—जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक, उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि संबंध युक्त मानता हूँ।

६—"अनादि पदार्थ" तीन हैं एक ईश्वर द्वितीय जीव और तृतीय प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण इन्हीं को नित्य भी कहते हैं, जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म स्वभाव भी नित्य हैं॥

उपर्युक्त उद्धरणों से जीव का वैदिक स्वरूप बहुत सहज में समझ में आ जाता है। इन लक्षणों में से एक भी लक्षण ऐसा नहीं जिनको हम जीव से पृथक् समझ सकें।

यदि जीव अनादि न माना जायगा तो यह मानना पड़ेगा कि परमात्मा संबंधी वे गुण जो जीव के सम्बन्ध से हैं कभी ईश्वर में विद्यमान न थे और इसलिये सर्वगुण सम्पन्न ईश्वर अनादि व अनन्त न रहेगा। यदि जीव की ईश्वर से उत्पत्ति मानेंगे तो ईश्वर के सारे लक्षण जीव में होने चाहिएँ जैसा कि हम नहीं देखते।

यदि जीव स्वतंत्र कर्त्ता न माना जायगा तो पाप और पुण्य का सारा उत्तर दायित्व ईश्वर पर रहेगा जो किसी प्रकार भी ठीक नहीं हो सकता।

महाभारत के युद्ध के समय तक जीव संबंधी विचार भी ठीक ठीक प्रचलित रहे परन्तु जब विद्वानों का नाश हुआ। और वैदिक मर्य्यादा का ह्रास हुआ तो भ्रमसूलक विचार फैले।

वाम मार्ग के समय में भोग-विलास की पराकाष्ठा के कारण जीव संबंधी विचार भी उलट-पुलट गये। जीव को चार्वाक वाले पृथक् स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते और नहीं पूर्व जन्म के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, क्योंकि ऐसा मानने से उनको भोग-विलास की वासनाओं में बाधा उपस्थित होती है।

इसके विपरीत जब बौद्ध और जैनियों के काल में त्यागमार्ग की प्रबल ध्वनि उठी तो जीव का स्वरूप ठीक ठीक जनता के सम्मुख न रहा और मोक्ष के संबंध में भी भ्रम फैल गया। स्वतंत्र कर्त्ता होने के स्थान में शून्यवाद के विचार फैले।

उपर्युक्त कारणों से यह पता चलता है कि जीव संबंधी भ्रम मूलक विचार दो विभागों में विभाजित किये जा सकते हैं:—

१—वह जो जीव को प्रकृति का केवल एक विकसित रूप मानते हैं। प्रकृतिवादी इत्यादि सब इसके अंतर्गत हैं।

२—जो जीव को ईश्वर का माया से या भ्रम से आच्छादित अंग मानते हैं।

हम आगे चलकर यह दर्शाने का उद्योग करेंगे कि पश्चिमी जगत के जीव संबंधी सारे वाद उपर्युक्त दोनों विभागों में से किसी एक न एक के अंतर्गत आ सकते है।

जीव का अवैदिक स्वरूप

सबसे प्रथम प्रश्न जो हमारे लिये इस संबंध में समझ लेने की आवश्यकता है वह यह है कि चैतन्यता और जीवन से क्या

अभिप्राय है अर्थात् Life and conciousness से क्या अभिप्राय है। जड़ और चेतन जगत् को देखने से यह विदित होता है कि दोनों में एक विशेष भेद है। जीवित प्राणियों में कुछ ऐसे गुण पाये जाते हैं जो जड़ प्रकृति में नहीं हैं और जीवन या प्राण शक्ति उस गति से उच्च है जो प्राकृतिक जगत् में दृष्टिगोचर होती है। हम जड़ पदार्थों में भी एक प्रकार की गति देखते हैं, उनमें भी उत्पत्ति, वृद्धि और नाश होता है, इसलिये उनकी इस दशा को देखकर बहुधा यह भ्रम हो जाता है कि उनमें भी प्राणशक्ति है। चेतन जगत् में भी कई श्रेणियां है। वृक्षों में जीव है; परन्तु चेतनता नहीं, पशुओं में भी जीवन है और अनुभव करने की शक्ति है, उनके अतिरिक्त मनुष्यों में जीवन भी है, अनुभव करने की शक्ति भी और तर्कनाशक्ति भी। पशुओं में और मनुष्यों में जो चेतनता और दुःख-सुख अनुभव करने की शक्ति पाई जाती है उसको प्राकृतिक विकासवादी इस आधार पर सिद्ध करते हैं कि यह चेतनता प्राकृतिक गति का एक विकसित रूप है और यह मनुष्य का मस्तिष्क केवल प्राकृतिक है, ऐसे विचार वालों के शिरोमणि हर्बट स्पेंसर हैं Consciousness is a mere by product of the vital process of the organism यह विचार घोर नास्तिकता की ओर ले जाने वाला है, क्योंकि यह न केवल जीव की सत्ता में भ्रम उत्पन्न करता है वरन् ईश्वर की में भी। इसके विपरीत दूसरा सिद्धांत Teleological evolution का है अर्थात् प्रयोजन सिद्ध विकास। इस वाद को हम अंग्रेजी में यों प्रकट कर सकते हैं—There is one absolute and universal spiritual principle which is eternally evolving itself in and through all that is and is known and hence the different Forms of beings Inorganic organic anb Conecious represent only the higher

and higher form of the process of its own unceasing manifesta tion and realization जिसका अर्थ यह है कि एक सार्वभौमिक आत्मिक सिद्धांत है जिसका अनादि काल से सारे जगत् में विकास होता रहता है चाहे वह जड़ हो या जीवित हो या चेतन हो इस सिद्धांत में तीन दशायें मानी गई हैं—एक Inorganic अर्थात् जड़, दूसरी Organic अर्थात् जीवित और तीसरी Conscious अर्थात् चेतन। इसमें जीवन और चेतनता में भेद मानकर दो भिन्न भिन्न विभाग मानने में भूल की है। वास्तव में जड़ और चेतन दो ही विभाग हैं। शरीर और मन दो पृथक शक्तियां हमारे सामने हैं और इन दोनों का आपस में क्या संबंध है यह भी विचारणीय है।

Body and mind के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना से सारा पश्चिमी दर्शन भरा हुआ है। इन दोनों पर विचार करने के लिये दो प्रकार की विचार धारायें हैं—

१—The Teleological Series अर्थात् शारीरिक विज्ञान-सम्बन्धी !

२—psychic Series अर्थात् मानसिक विज्ञान-सम्बन्धी।

हम इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को तीन प्रकार से प्रकट कर सकते हैं:—

१—यदि हम इन दोनों को स्वतन्त्र मानें तो और यह मानें कि वे एक दूसरे पर स्वतन्त्र सत्ता होते हुए प्रभाव डालते रहते हैं। इस वाद का नाम Theory of Inter-action है और इसको Duaeism भी कहते हैं एक बात यह भी है कि हम Body और mind के परस्पर के सम्बन्ध को केवल ईश्वर के आकस्मिक हस्तक्षेप पर मान लें—इसको theory of Occasionalism कह सकते हैं, तीसरा वाद यह है कि इन दोनों के परस्पर के सम्बन्ध

को पहले से ही एक साथ निश्चित कर दिया है। इस प्रकार हमने देखा कि दो स्वतन्त्र सत्तायें मानने वालों के तीन वाद हुए:—

१—Theory of Inter-action by Descartes.

२—Cararians Theory of Occasionalism.

३—The Theory of Prei Established Harmony By Leibnitz

अब इन तीनों को पृथक पृथक समझ लेने से इनकी भूल सहज में समझ में आ जावेगी।

१—Theory of Inter action—Body or mind are two independent Substances essentially Different in nature which Act and react upon each other अर्थात् शरीर और मन दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं जिनके गुण बिल्कुल भिन्न हैं और जिनमें क्रिया व प्रतिक्रिया का पारस्परिक सम्बन्ध है, इसमें निम्नलिखित भूल हैं:—

१—दो बिल्कुल असंबंधित द्रव्य एक दूसरे से मिलकर कार्य नहीं कर सकते, क्रिया और प्रतिक्रिया के लिये दोनों वस्तुओं में स्वाभाविक सामान्यता होनी चाहिये।

२—बिना किसी चेतन शक्ति के ऐसा नहीं हो सकता।

2—Theory of Occasionalism अंग्रेजी शब्दों में इसको यों कह सकते हैं:—

On the occasion of sensary stimulation God intervenes & produces the corresponding sensation in the mind and on the occaasion of a desire of volition in the mind God produces the corresponding movement in the body. जिसका अर्थ यह है कि जब नसों

में कोई सुरसुराहट पैदा होती है तो परमात्मा बीच में पड़ जाता है और उसको मन तक पहुँचा देता है और जब कोई मन में इच्छा पैदा होती है तो उसको ईश्वर कर्मेन्द्रिय तक पहुँचा देता है, यह वाद अत्यन्त भ्रममूलक है। इसका केवल अभिप्राय यह हुआ कि परमात्मा एक मशीन-मैन हुआ जो हर वक्त इस मशीन को चलाता रहता है। यह कोई उत्तर भी नहीं है केवल कठिनाई को और बढ़ाना है।

3—Theory of pre-established Harmony.

"God pre-adjusted body & mind to each other in such a way at the time of creation that they always correspond to each other." अर्थात् ईश्वर ने सृष्ट्युत्पत्ति के समय मन और शरीर का ऐसा सम्बन्ध निश्चित कर दिया है कि वह हमेशा एक दूसरे से मिलकर काम करते है। यह कुछ कम हास्यास्पद नहीं है। जिस प्रकार दूसरी श्रेणी के वाद वालों ने कभी कभी करामात का सहारा लिया और तीसरे वाद वालों ने केवल एक बार। हमने देखा कि वैदिक सिद्धान्त पश्चिमी विद्वानों के सम्मुख न होने के कारण मन और शरीर को दो पृथक सत्तायें मान कर भी ऐसी भूल करनी पड़ी और किन मन गढ़ंत बातों का सहारा लेना पड़ा। प्रथम तो उन्होंने जीवात्मा और मन के ही भेद को न समझा, मन भी तो एक इंद्रिय है। जीवात्मा मन से भी और अन्य इन्द्रियों से भी इस शरीर रूपी निवास स्थान में बैठकर कार्य करता है और ईश्वर का सम्बन्ध इस व्यवस्था से है जीव स्वयं कर्म करने में स्वतंत्र है, ईश्वर को न सृष्टि के आरम्भ में और न मध्य में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है कर्मों के फल भोगने की अवस्था अटल है और उसके अनुसार कार्य होता है।

जो मन और शरीर को दो स्वतंत्र सत्तायें नहीं मानते वे दोनों को एक मानते हैं और वे भी दो प्रकार के हैं अर्थात् Monism के दो विभाग हैं :—

1—Materialism

2—Spiritualism or Subjective Iedealism

प्रकृतिवाद को वर्णन यों कर सकते हैं:—

"mind or consciousness is either a functional or a secretion or an ephiphenomenon of the. brain hence boing a product of the mind it has no independent substantial existance. मन मस्तिष्क का ही एक परिमाण है या उसकी ही एक क्रिया की उत्पन्न हुई घटना है, इसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। इस वाद में निम्न भूले हैं :—

१—बुद्धि और मन को एक ही समझ लिया है और मन वा जीवात्मा के भेद को भी नहीं समझा है। मस्तिष्क शरीर का अंग है और उसकी क्रिया का साधन है। जीवात्मा मन द्वारा उससे काम लेता है।

२—मन मस्तिष्क का परिणाम नहीं हो सकता। ऐसा मान लेने से काम करने की शक्ति अर्थात् कारण रूप वन कर कार्य उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहेगी।

३—चेतनता की उत्पत्ति कैसे हुई—इस पर, कुछ प्रकाश नहीं पड़ता।

४—ज्ञान उत्पत्ति पर इससे कोई प्रकाश नहीं पड़ता यह जीव और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध को एक गोरख-धन्धे में डाल देता है।

Spiritualism or Subjective Idealism.

यह वाद इस प्रकृति को केवल एक अनुमानिक सत्ता मानता है जिसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं और जो केवल हमारे मन में रहती है। वर्कले इसका प्रतिपादक है, यह स्पष्ट रूप से भ्रम मूलक है। इससे ज्ञान की उत्पत्ति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। चेतन जगत में ज्ञाता और ज्ञेय दो भिन्न २ सत्ताओं का भेद

इससे चक्कर में पड़ जाता है और यदि यह वाद माना जाय तो हमको किसी चीज का ज्ञान न होना चाहिये।

दो वाद ऐसे हैं कि जो मन और शरीर को किसी अंश में स्वतन्त्र और किसी अंश में एक मानते हैं। ये दो प्रकार के हैं।

Parallelistic Monismor Universal Parallelism

जिसका अभिप्राय यह है कि मन और शरीर दो स्वतंत्र द्रव्य नहीं है परन्तु एक ही द्रव्य अर्थात् ईश्वर के दो साथ-साथ चलने वाले समानांतर रूप हैं एक वाह्य रूप है और एक आंतरिक यह भी भ्रमोत्पादक है। दोनों को समानांतर मान लेने से काम नहीं चलता। यह ऐसा क्यों है इसका उनको उत्तर देना होगा।

२—मन और शरीर एक बराबर नहीं माने जाते। मन शरीर से काम लेता है।

2—Dualistic Monisin or Absolute Idealism

इस वाद के प्रतिपादक हीगल हैं। यह वाद नवीन वेदांत से मिलता-जुलता है। इसे संक्षेप से यों प्रकट कर सकते हैं:—

It is the same absolute power which evolves the organs and co-ordinate them into an organism and through the medium and instrumentality of an organism realizes it self to a self conecious Finite mind so that body and mind correspond to each other being the manifestations of the absolute spirit.

वह एक ही सब प्रकार से संपन्न शक्ति है जो इंद्रियों को विकसित करता है और उनसे एक प्राणी बन जाता है और उस प्राणी के द्वारा अपना परिचय एक चेतन अल्प ज्ञान वाले के रूप में देता है, जिसका अर्थ यह है कि शरीर और मन एक दूसरे से मिलकर काम करते हैं और उस महान् शक्ति के बल का परिचय देते हैं।

Pan-psychism.

यह भी एक जीव सम्बन्धी वाद है। यह जड़ से ही चेतनता की उत्पत्ति मानता है, इसके प्रतिपादक Paulson हैं। पौलसन महाशय ने तो यहाँ तक अत्युयुक्ति की है कि पृथ्वी सूर्य्य जगत् और तारागणों में भी एक प्रकार की चेतनता मानने लगे हैं। इस वाद के संबन्ध में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं, केवल वाह्य समानता को देखकर जड़ प्रकृति से चैतन्यता की उत्पत्ति मानना भ्रम मूलक है। महाशय Marriun ने जो एक प्रसिद्ध दार्शनिक हैं, इसका प्रबल रूप से खंडन किया।

उपर्युक्त वादों का जहाँ तक सम्बन्ध है, वे जीव के चैतन्यता सम्बन्धी गुण को सिद्ध करने के लिये है। इसके अतिरिक्त जीव में तर्क शक्ति, सुख-दुःख अनुभव करने की शक्ति ये सब ऐसे गुण हैं जिनके सम्बन्ध में हमारे वैदिक सिद्धांत से पश्चिमी दार्शनिकों में मौलिक भेद है। जहाँ हमारा वैदिक सिद्धांत थें सब गुण जीव के स्वाभाविक गुण मानता है हर्बर्ट स्पेंसर HerBert Speucer और पश्चिमी विद्वान् इन सब को विकासवाद के आधार पर पशु जगत से उन्नत होकर मनुष्य-दशा में आना सिद्ध करते हैं। विकासवाद प्राकृतिक और मानसिक जगत् में एक पृथक् निबन्ध का विषय है। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त होगा कि विकासवाद इन प्रश्नों के उत्तर देने में हर प्रकार से असफल रहा है। हम पशु जगत् में ऐसे बुद्धि के चमत्कार पाते हैं जिससे यह विदित होता है कि जो आत्मा इस समय पशु के शरीर में निवास कर रही है, वह मनुष्य के शरीर में रह कर विशेष प्रकार का ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर चुकी है। पशुओं में मनुष्यों के से गुण प्रसिद्ध होते हैं, परन्तु कारणवश गुप्त रहते हैं। अनुकूल परिस्थिति मिल जाने पर वे प्रकट हो जाते हैं। न तो पूर्वकाल की अपेक्षा वर्त्तमान समय में मनुष्यों ने कोई

विकास प्राप्त किया है और पशु जगत् तथा मनुष्य जगत् में भी कोई मौलिक भेद नहीं है, केवल अवस्था का भेद है।

आत्मा का स्वरूप

बहुत से विद्वान तो mind और Soul में कोई भेद ही नहीं मानते केवल आत्मा को mind का एक उन्नत स्वरूप मानते हैं। जो आत्मा को मानते भी है वे उसकी विवेचना तीन प्रकार से करते हैं:—

१—वे यह मानते हैं किइस सोचने, अनुभव करने और इच्छा करने वाली शक्ति के अन्तर्गत एक Permanent Principle unity अर्थात् एक स्थायी एकता का सिद्धांत है, जो इन मानसिक क्रियाओं से भिन्न और अतिरिक्त है।

२—वे हैं जो किसी एक ऐसी शक्ति में विश्वास नहीं करते जो केवल एक Series or an Agregate of mental states में विश्वास रखते हैं अर्थात् जो विचार धारा में ही विश्वास रखते है।

३—वे हैं जो एक वास्तविक आत्मिक एकता में विश्वास रखते हैं जिसकी वे कोई पृथक सत्ता इन मानसिक क्रियाओं द्वारा प्रकट करती रहती है। संक्षेप से ये तीनों विचार यों प्रकट किये जा सकते हैं।

१—Self is an abstract unity or substance apart from its manifestations. इसको Noumenal Self भी कहते हैं।

२—An agregate of mental state इसको Empirical Self कहते हैं।

३—Concrete spiritual Substance जिसे Idealistic self कहते है।

इन तीनों स्वरूपों की विवेचना यदि विस्तार से की जाय तो निबन्ध बहुत लम्बा हो जायगा, परन्तु ज़रा-सा विचार करने पर भी दूसरे और तीसरे प्रकार के स्वरूप में त्रुटि स्पष्ट दीख पड़ेगी। ये सारे विचार जो मानसिक क्रिया के रूप में निकले हैं आपस में असंबन्धित नहीं हो सकते। बिना विचार करने वाले के विचार अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते। यदि कोई कहता है कि विचार फैल रहे हैं इसका अभिप्राय यही है कि विचार करने वाले उपस्थित हैं, जीव को केवल एक ईश्वर की माया से आच्छादित रूप मानना या केवल एक कल्पित सत्ता माना भ्रममूलक है। पहला विचार वैदिक सिद्धांत से मिलता जुलता है, केवल चेतनता के अतिरिक्त जीव के और शेष गुणों के जीव और न्यायदर्शन उसमें समावेश की आवश्यकता है। जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में जो युक्तियां न्यायदर्शन में जीव की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिये दी गई हैं वे यहां संक्षेप से दी जाती हैं।

स्वाभाविक तथा प्राणी का इन्द्रियादि से सम्पन्न देह ही कर्त्ता प्रतीत होता है इसलिये मनुष्य को भ्रम हो सकता है कि यह शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि वेदना आदि का समूह ही तो आत्मा नहीं है इस भ्रम को दूर करने के लिये गोतममुनि कहते हैं—

१—दर्शन स्पर्शनाभ्यामे कार्थ ग्रहणात्।

जिस वस्तु को आँख से देखा जाता है उसी को स्पर्श से जाना जाता है मैंने जिस वस्तु को आँख से देखा उसी को हाथसे छू रहा हूँ ऐसे एक ही विषय के दो ज्ञान एक ही कर्त्ता के सम्बन्ध से हो सकते हैं। समुदाय के भिन्न भिन्न अंकों द्वारा प्राप्त हुए ज्ञानों का विषय एक ही है यह प्रतीति किसको होगी? अतः संघात से अतिरिक्त सर्व विषय ग्राही चेतन आत्मा मानना पड़ता है।

२—शरीर दाहे पात का भावात् ।

सभी जानते हैं कि जीवित मनुष्य को यदि कोई अग्नि में जला दे तो वह हत्यारा और पापी कहलाता है परन्तु मृतक शरीर को निःसंकोच अग्नि में जला दिया जाता है। यदि प्रकृति जन्य शरीरादि का संघात ही आत्मा होता तो मृतक शरीर को जलाने वाला भी पापी कहलाता है।

३—सव्य दृष्टस्येतरेण प्रत्याभिज्ञानात ।

प्रत्याभिज्ञा (Recognition) जीव की स्वतन्त्र सत्ता में मुख्य प्रमाण है। परन्तु यदि यह कहा जाय कि जो इन्द्रिय देखती है वही पहचान लेती है तो भी ठीक नहीं है क्यों कि बाईं आँख के देखे हुए को दाईं आँख भी पहचान लेती है।

४—इन्द्रियान्तर विकारात् ।

एक इन्द्रिय के द्वारा किसी पदार्थ की प्रतीति होने पर कभी कभी दूसरी इन्द्रिय पर उसका प्रभाव देखा जाता है, खट्टे नीबू को देखकर मुँह में पानी भरने लगता है। भला आँख की खबर जीभ को स्वतन्त्र आत्मा के बिना कौन देता है ?

यदि यह कहा जाय कि स्मृति के कारण ऐसा होता है तो इसका उत्तर यह है कि स्मृति तो गुण है और यह जिसके आधार से रहता है वह गुणी ही आत्मा है। वात्स्यायन कहते हैं :—

स्मृति स्वयं एक ही पदार्थ में तीन प्रकार के ज्ञान को बतलाती है। ये तीन ज्ञान अनेक कर्त्ताओं के नहीं हो सकते। पहला दर्शन जिसकी स्मृति है और वर्तमान स्मृति तथा वर्तमान दर्शन ये तीन ज्ञान एक ही कर्त्ता का बोध कराते हैं और बिना कर्त्ता के भी नहीं हो सकते। अतः स्मृति आत्मा की पृथक् सत्ता की बोधक है।

उपर्युक्त विवेचन पर यह तर्क उठाया जा सकता है कि यह सब मन के द्वारा सम्भव है। इसका उत्तर गोतम जी देते हैं कि

५—ज्ञातुर्ज्ञान साधनो प यत्तौ संज्ञा भेद मात्रम्।

अर्थात् जो कोई भी ज्ञाता हो उसका एक ज्ञान साधन श्रोत्र है देखने का साधन चक्षुः है इसी प्रकार मनन करने का साधन भी अवश्य होगा। अतः उस साधन से ज्ञाता भिन्न हुआ। बस अब ज्ञाता की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो गई। यदि आप उसको मन कहते हैं तो उसके ज्ञान साधन को और कुछ कहना पड़ेगा। यह केवल शब्दों का झगड़ा रह जाता है।

हाँ यह तो हो ही नहीं सकता कि श्रवण-दर्शन आदि के लिये साधन हों और मनन का साधन न हो।

६—नियमश्च निरनुमानः

ऐसे नियम के लिये को प्रमाण नहीं है।

Free will or Self Determination

जीव स्वतन्त्र कर्त्ता है

जीव के सम्बन्ध में एक बड़ा जटिल प्रश्न है और वह यह है कि क्या जीव स्वतन्त्र कर्त्ता है। इस प्रश्न का उत्तर मिल जाने पर जीव की समस्या बहुत सुगम होजाती है। इस सिद्धान्त पर भी विद्वानों ने और भिन्न-भिन्न मतमतान्तरों में बड़ा भेद है। यदि जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता न माना जाय तो धार्मिक जगत् का सारा कर्मकाण्ड समाप्त होता है और सदाचार, दुराचार, पाप और पुण्य का प्रतीक नहीं रहता। जीव एक स्वतन्त्र कर्त्ता है और वह अपनी कार्य-प्रणाली को स्वयं निश्चित करता है। वह अपनी दशा को उन्नत बना सकता है और अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। वाह्य दृष्टि में यह कोई विवादास्पद बात मालूम नहीं होती, परन्तु बहुत से विद्वान् इस बात पर सहमत

यदि किसी खाद्य पदार्थ को देख कर उसके अन्दर इच्छा हो भी जाय तो भी वह खाय या न खाय यह उसके आधीन है।

२—The law of Conservation of energy भी इसके प्रतिकूल है। इस सिद्धान्त का अभिप्रय यह है कि इस विश्व में energy या शक्ति की मात्रा निश्चित है. उसमें हम वृद्धि नहीं कर सकते। यदि हम अपने स्वतन्त्र विचार से शरीर के अन्दर नवीन शक्ति का संचार करते हैं तो उसका अभिप्राय यह है कि हम में fresh energy अर्थात् नवीन शक्ति उत्पन्न हुई। यह युक्ति भी भ्रममूलक है, स्वतन्त्र इच्छा से नयी शक्ति का संचार नहीं होता, केवल उसका रूपान्तर या स्थान भेद होता है।

३—Materialistic आधार पर जो जीव को प्रकृति का एक विकसित रूप मानते हैं वे स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं मान सकते। इस बात का ऊपर कई बार खंडन हो चुका है।

४—Abstract monism or pantheism के आधार पर। जो केवल एक ईश्वर की सत्ता ही मानते हैं जगत् और जीव को केवल माया मानते हैं वे जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता मान ही नहीं सकते।

Spinoza का कहना है कि हमको स्वतन्त्रकर्त्ता होने का भ्रम केवल इसलिये होता है, क्योंकि हमको उन कारणों का पता नहीं चलता जिनके आधार पर वे उत्पन्न हुए हैं। वैसे तो एक पत्थर भी अपने को जब किसी दूसरे को जाकर लगे तो अपने को स्वतन्त्र समझ सकता है। इस बात का भी ऊपर खण्डन हो चुका है।

ईश्वर और जीव दो भिन्न-भिन्न सत्तायें हैं, जीव और प्रकृति की पृथक् सत्ता न मानने से ईश्वर की सत्ता भी भ्रम में पड़ जाती है।

Theological.

ईश्वर सर्वज्ञ है उसको भविष्य का भी पूरा ज्ञान है। यदि हम जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता मानेंगे तो ईश्वर का भविष्य का ज्ञान उसमें बाधक होगा। ईश्वर को हमारे सब होने वाले कार्य का पूरा ज्ञान रहता है और बिना उसकी आज्ञा के कुछ हो नहीं सकता, इसलिये यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर ने पहले से ही हमारे भविष्य के कर्म भी निश्चित कर दिये हैं और जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं माना जा सकता। यह आक्षेप भी कोई मूल्य नहीं रखता। ईश्वर केवल उन्हीं बातों का ज्ञान रखता है जो होती है अर्थात् उससे कोई बात छिप नहीं सकती। किसी मनुष्य के भविष्य के कर्म जिनके होने या न होने में अभी संशय है उनके सम्बन्ध में ईश्वर को कोई ज्ञान रखने की आवश्यकता नहीं है।

जीव के स्वतन्त्र कर्त्ता होने में निम्न लिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

१—आत्मा की चेतनता इसकी द्योतक है। हम अपनी इच्छा शक्ति में स्वतन्त्र हैं। और हम स्वयं अपने कार्य को निश्चित करते हैं। हम अपने विचार और कर्म में अपने अन्दर से स्वतन्त्रता अनुभव करते हैं। जीव के तीन मुख्य गुण हैं। अर्थात्—

१—ज्ञान, २—कर्म, ३—भोग और उसके सारे गुण इन तीनों के अन्तर्गत आजाते हैं। ज्ञान प्राप्त करने और कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है उसकी परतन्त्रता केवल भोग के सम्बन्ध में है। इसको हम अंग्रेजी में Evidence of self consciousness कह सकते हैं।

२—हमारे अन्दर सदाचार सम्बन्धी विचार स्वाभाविक हैं अर्थात् यदि जीव के लिये धर्म ने अथवा सामाजिक शास्त्र ने

कोई सदाचार सम्बन्धी नियम अनिवार्य रक्खे हैं तो उसको उनके करने में स्वतन्त्र भी होना चाहिये। प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान् कान्ट ने इस विचार को इस प्रकार प्रकट किया है—In moral judgement there is a sense of oughtness or moral obligation. This moral obligation applies freedom well. thou oughtest there fore thou Canst (i) Duty and resposibility, morality, justice, accountability merit and demerit, virthue and vice, would be quite meaningless if there wer no freedom of will जिसका अभिप्राय यह है कि सदाचार शास्त्र के आधार पर जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता मानना ही अनिवार्य है।

जीव अविनाशी है अर्थात् अनादि और अनंत है।

मृत्यु रूपी पटाक्षेप को देख कर बहुधा यह भ्रम हो जाता है कि मृत्यु के समय न केवल शरीर का बल्कि आत्मा का भी नाश हो जाता है और इस विचार से आत्मा सम्बन्धी ज्ञान में बहुत सी त्रुटियाँ आजाती हैं। इसलिये मृत्यु के हम जिस रूप से भी विचार करें यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम मृत्यु के समय जीव का नाश नहीं मान सकते।

१—मृत्यु शरीर विज्ञान की दृष्टि से—

शरीर विज्ञान के अनुसार मृत्यु केवल शक्तियों के केन्द्र परिवर्तन है।

Conservataion of energy के नियम के अनुसार energy (शक्ति) का कभी नाश नहीं होता केवल उसमें अवस्था भेद आ जाता है। और इस स्थल पर शक्ति के अन्तर्गत दोनों मानसिक शक्ति और शारीरिक शक्ति आ जाती है। इसलिये यदि हम विज्ञान के आधार पर यह मानते हैं कि शारीरिक शक्तियां भी

केवल रूप परिवर्तन के पश्चात् अविनाशी रहेंगी तो यह भी मानना पड़ेगा कि मानसिक शक्तियां भी अवश्य अविनाशी होंगी

२—जीव के विकास की दृष्टि से

जीव के शरीर धारण करने में एक विशेष प्रयोजन और लक्ष्य की सिद्धि है। जीव अपने लक्ष्य की पूर्ति केवल एक जन्म में नहीं कर सकता इसलिये यह मानना पड़ेगा कि जीव के विकास के लिये मृत्यु के पश्चात् भी उसकी सत्ता माननी अनिवार्य है। यूरुप के प्रसिद्ध Philosopher martineau ने जीव के अविनाशी होने को तीन प्रबल युक्तियों से सिद्ध किया है जिन्हें उसके निम्न प्रकार प्रकट किया है—

(अ) Vaticinationsof the intellect

(ब) Vaticinationsof conscience

(स) Vaticinations in suspenso

इनका अभिप्राय यह है कि हमारी मानसिक शक्तियाँ परिमित हैं और देश और काल से सीमित रहती हैं इनके पूर्ण विकास के लिये यह आवश्यक है कि हम इस शरीर के छोड़ने के पश्चात् भी शरीर धारण करें। अर्थात् Intelect अथवा मानसिक शक्तियों का विकास जीव के अविनाशी होने में हेतु है—इसी प्रकार सदाचार सम्बन्धी आदर्श भी एक जीवन में पूर्ण नहीं हो सकता। इच्छा और कर्तव्य का जीवन पर्यन्त संघर्ष रहता है इसलिये जीव का पूर्ण विकास उस समय होगा जब उसके कर्तव्यों की समाप्ति हो जावे और वह आपकी इच्छानुसार परम आनन्द को प्राप्त कर सके जिसे मोक्ष की दशा कहते हैं। तीसरी युक्ति यह है कि इस जीवन में हमारे बहुत से काम अच्छे और बुरे ऐसे रह जाते हैं जिनका कि फल हमको इस जन्म में नहीं मिल पाता और यदि मृत्यु को अन्तिम पटाक्षेप माना

जायगा तो कर्म के जगत् में बड़ी निराशा उत्पन्न हो जावेगी हमारे अन्दर न अच्छे कर्म करने के लिये उत्साह होगा और न बुरे कार्य करने में भय जिसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि जब भोगवाद सीमा का उल्लंघन कर जाता है तो जीव का आवागमन नहीं माना जाता इसलिये हमारे विकास अथवा ज्ञान की सम्पूर्ण प्राप्ति व कर्म की सबसे उत्तम समाप्ति व भोग की अन्तिम उन्नति के लिये जीव को अविनाशी मानना ही आवश्यक है।

पुनर्जन्म अथवा आवागमन

मृत्यु से सिद्धि

इस संसार की प्रत्येक घटना से जीव का इस जन्म से पूर्व अन्य शरीर धारण करना सिद्ध है। जीवन और मृत्यु दो सबसे साधारण घटनाएँ हैं। पहले हम यदि मृत्यु को ले लें तो उससे पूर्व जन्म सिद्ध होगा। मृत्यु के सम्बन्ध में सबसे पहली बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य बल्कि प्राणीमात्र मृत्यु से डरते हैं इस जन्म में तो मृत्यु का अनुभव किसी को नहीं हुआ इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म में जो मृत्यु का अनुभव हो चुका है उसके कारण मृत्यु का भय उनके अन्दर पाया जाता है। दूसरी बात जो मृत्यु के सम्बन्ध में है वह यह कि मृत्यु के समय में बहुत भेद है एक बालक एक साल में मर जाता है और दूसरा पचास वर्ष जीवित रह कर मरता है कोई घटना संसार में अकारण नहीं इससे पता चलता है कि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार जाति आयु और भोग पूर्व से निश्चित होते हैं। जीवन के आधार पर पूर्व जन्म इस प्रकार सिद्ध होता है कि हम इस जीवन में अत्यन्त विषमता पाते हैं प्राणी भिन्न-भिन्न योनियों में है और एक प्रकार की योनि में भी प्राणियों में अवस्था का अत्यन्त भेद है एक बालक राजा के

यहां जन्म लेता है दूसरा एक ग़रीब के यहाँ और योग्यताओं का भी बहुत भेद है। बहुधा ऐसा देखा गया है कि एक ही पिता के दो बालक हैं उनको एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाती है और एक सी अवस्था में उनका लालन और पालन होता है। परन्तु परिणाम बिलकुल भिन्न-भिन्न होता है। शिक्षा समाप्त करने के समय यह देखा गया है कि एक तो बिलकुल मूर्ख रह जाता है और दूसरा धुरन्धर विद्वान् हो जाता है इसके साथ ही ऐसा देखा गया है कि एक बालक जन्म लेता है और पाँच छः साल की अवस्था में ही बड़ा अच्छा गाना गाने लगता है। किसी कवि या गाने वाले की या किसी की बुद्धि-मत्ता की प्रशंसा करते हुए लोग कहते हैं He is a born poet or a born genius or a born musician. अर्थात् वह जन्म का कवि गवैया और बुद्धिमान है यहां जन्म शब्द से अभिप्राय पूर्वजन्म से ही है अर्थात् इसका अर्थ यह है कि पूर्व जन्म में प्राप्त की हुई योग्तता के आधार पर उसने इस जन्म में अति शीघ्र विशेष योग्यता प्राप्त करली। यह भी देखा गया है कि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य को देख कर बिना पूर्व परिचय के रुष्ट हो जाता है और किसी को देख कर प्रेम करने लगता है। Love in first sight and prejudice in first sight भी पूर्व जन्म के संघर्ष के द्योतक हैं यह भी देखा गया है कि एक मनुष्य की बाह्य आकृति पुरुष की है परन्तु उसका स्वभाव स्त्रियों का सा है और कभी इस के विपरीति भी होता है। इसी प्रकार कोई आदमी भारत वर्ष में रहता हुआ और भारतवर्ष में जन्म होते हुए इंगलैण्ड की रहन-सहन की ओर रुचि रखता है और दूसरा इंगलैण्ड में रहता हुआ भारतवर्ष से असाधारण प्रेम रखता है। इस प्रकार ये सारी विषमताएँ पूर्व जन्म को सिद्ध करती हैं।

पूर्व जन्म की याद क्यों नहीं रहती ?

पूर्व जन्म की सिद्धि में एक बड़ी बाधा पूर्व जन्म की याद न होना है परन्तु किसी चीज़ की याद न होने से उसकी सत्ता असिद्ध नहीं हो सकती है। पूर्व जन्म की क्या हमें तो इस जन्म की भी अनेक घटनाएँ याद नहीं रहतीं, परन्तु उनके न होने का हम कभी सन्देह नहीं करते। अब तो ऐसे बहुत से उदाहरण हैं कि किन्हीं विशेष दशाओं में बालकों को अपना जन्म याद रहता है जिसके प्रमाण समाचार पत्रों में अनेक बार छप चुके हैं। इस छोटे से निबन्ध में उनको उद्धृत नहीं किया जा सकता याद न रहना परमात्मा की अपार दया है। योनि परिवर्तन आत्मा के सुधार के लिये हैं। आत्मा से वासनाओं व बुरे संस्कारों को दूर करना एक बड़ा कठिन प्रश्न है। संसार की वर्तमान दण्ड प्रणाली इन वासनाओं के सुधार में बहुत असफल है, एक मनुष्य चोरी करता है और बार बार जेल जाता है और पक्का चोर होता जाता है। यदि चोरी का ध्यान उसके मस्तिष्क से निकल जावे तब जेल में रहने से उसकी आदत छूट सकती है याद न रहने से एक लाभ और भी है हमारे इस जन्म के ही झगड़े नहीं निबटते यदि पूर्व जन्म की बातें याद रहतीं तो बड़ी आपत्ति उत्पन्न हो जाती। एक मनुष्य ने किसी परिवार में जन्म ले लिया है परन्तु वह जानता है कि उसका एक लाख रुपया उसके पूर्व जन्म की कमाई का किसी दूसरे आदमी के पास है वह इसके लिये झगड़ा करेगा इसी प्रकार जायदाद और स्त्री के लिए भी झगड़ा कर सकता है। हमारी भलाई तो इसमें है कि या तो बच्चे को याद रहती है जिसमें झगड़ा करने की सामर्थ्य नहीं होती या किसी योगी को याद रहती है जिसके अन्दर किसी योग्य पदार्थ के लिये विवाद करने की इच्छा नहीं रहती। उसके अन्दर त्याग के भाव रहते हैं और संतोष और विवेक उसके अन्दर होता है।

नहीं हैं कि जीव अपनी इच्छा और क्रिया में स्वतन्त्र है। उनका कहना यह है कि जीव अपने मार्ग को स्वयं निर्धारित नहीं करता बल्कि एक दूसरी शक्ति उसको किसी विशेष प्रकार की क्रिया करने के लिये बाधित करती है। इसलिये freedom of will के सिद्धान्त को Self determination भी कहते हैं। जो जीव की स्वतन्त्रता मानते हैं वे Libertarians. भी कहलाते हैं। जो इस स्वतन्त्रता के पक्ष में नहीं हैं वे Necessarians अर्थात् स्वतन्त्रतावादी और परतन्त्रतवादी।

इस प्रश्न पर चार रूप से विचार किया जा सकता है।

१—Psycho logical मनो वैज्ञानिक दृष्टि।

२—Ethical सदाचार की दृष्टि से।

३—Metaphysical तत्वज्ञान की दृष्टि से।

४—Theological धर्म की दृष्टि से।

स्वतन्त्रता के विरोधियों की युक्तियों की जांच।

१—मनोविज्ञान की दृष्टि से जो प्रबल युक्ति, वे जीव की स्वतन्त्र न होने में देते हैं वह यह है कि स्वतन्त्र क्रिया का आधार बाह्य जगत् से उठाने वाले प्रभाव हैं अर्थात् जो कुछ आत्मा के अन्दर विचार पैदा होते हैं वे बाह्य जगत् से उत्पन्न होते हैं। अगर Conflect of motives होता है अर्थात् विचार-संघर्ष होता है तो सबसे बलवान् विचार की विजय होजाती है। दूसरे शब्दों में आत्मा की इच्छा बाह्य साधनों पर आश्रित है। बाह्य साधन से अभिप्राय उस वातावरण से है जो जीव के समीप में है और इससे कुछ अंश जीव के पूर्व के संस्कारों का भी होता है, जो संस्कार कुछ तो पैतृक परम्परा से प्राप्त होते हैं और कुछ मस्तिष्क की और शरीर की बनावट से। इनका कहना है कि

प्रकृति में रूप-रस-गन्ध के गुण हैं। जब ये गुण आत्मा के सम्मुख उपस्थित होते हैं तो आत्मा में तत्सम्बन्धी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। यदि कारण रूप वे प्रकृति के गुण उपस्थित न हों तो जीव की इच्छा व क्रिया भी उपस्थित नहीं हो सकती। उनका यह भी कहना है कि जिस प्रकार हम प्राकृतिक घटनाओं के सम्बन्ध में जैसे ग्रहण व वर्षा के लिए भविष्यवाणी कर सकते हैं उसी प्रकार यदि हमारे पास सम्पूर्ण पूर्व का इतिहास हो तो किसी व्यक्तिगत जीव या किसी जाति-विशेष की भविष्य की कार्य प्रणाली के संबंध में भी भविष्यवाणी की जा सकती है। ये दोनों युक्तियां निर्मूल और निराधार हैं। आत्मा के अन्दर अनेक ऐसी इच्छायें होती हैं जिनका बाह्य जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। बल्कि यों कहना चाहिये कि प्रकृति के उपर्युक्त गुणों का अनुभव भी तभी हो सकता है जब एक स्वतन्त्र जीव उनको अनुभव करने वाला हो और भविष्य के कार्य किसी व्यक्ति या जाति के किसी प्रकार भी नहीं बताये जा सकते। यह मनगढ़न्त बातें केवल विकासवाद के अति-प्रचार के कारण हैं और निर्मूल हैं। तत्वविज्ञान की दृष्टि से जीव के स्वतन्त्र कर्त्ता होने में चार प्रकार के आक्षेप उपस्थित किय जाते हैं।

१—Law of Casuality के आधार पर, इसका अभिप्राय यह है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता, इसलिये जब तक कोई कारण न हो तो जीव स्वतन्त्र विचार नहीं कर सकता। यदि कारणवश मानेंगे तो स्वतन्त्रता नहीं रहेगी, और यदि अकारण मानेंगे तो तर्क के प्रतिकूल होगा। इस युक्ति में बच्चों की सी भूल है। यदि केवल यह जान लेते कि कारण कै प्रकार के होते हैं और जीव में इच्छा उत्पन्न होने के कारणों से क्या अभिप्राय है तो ऐसी युक्ति पेश न की जाती। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है।

पूर्वजन्म और विकासवाद

विकासवाद के सिद्धान्त ने अपनी खोज से यह सिद्ध कर दिया है कि जितनी योनियाँ हैं उन सब में एक तारतम्य है। वह तो इस प्रकार मानते हैं कि पहले छिपकली इत्यादि थे, उनसे बढ़ कर बड़े पशु बन्दर आदि हुए। और बन्दर से उन्नत होकर आदमी बना है। उन्होंने इन सब प्राणियों की शरीर के निर्माण की अवस्था को देखा और उनमें एक विशेष प्रकार की समानता पाई और उनके शरीर के निर्माण में आवश्यकता के अनुसार भेद भी पाया। प्रतिकूल परिस्थिति विकास का साधन माना जाता है—Struggle for Existence Leads to evolution उन की इस खोज से वास्तविक परिणाम यह निकलना चाहिये कि जीव को अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न शरीर दिये गये हैं और यों कह सकते हैं कि जीव के लिये यह भिन्न-भिन्न प्रकार के निवास स्थान प्रदान किये गये हैं जिस प्रकार इस संसार में कोई इञ्जीनियर जो इमारतें बनाता है उनका एक सामान्य नक़शा होता है और उनमें आवश्यकता के अनुसार विशेष परिवर्तन कर देता है। इसी प्रकार ईश्वर ने सब प्राणियों के लिये शरीर रूपी सामान्य साधन दिये हैं और विशेष योनि की आवश्यकतानुसार भेद कर दिया है। योनि परिवर्तन सुधार व उन्नति के लिये है इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि दुःख क्यों है कि बिना प्रतिकूल परिस्थिति के विकास नहीं हो सकता और इसी आधार पर संसार में दुःख की पहेली भी हल हो जाती है। विज्ञान वालों का यह आक्षेप है कि यदि इस संसार का कोई दयालु, निर्माता होता और इसका प्रतिपालक दयावान होता तो इसमें जन्म और मृत्यु के चक्कर क्यों होते और यह मार, धाड़ और अशान्ति क्यों होती। ऐसा आक्षेप करने वाले यह भूल जाते हैं कि दुःख की उपस्थिति में ही सुख का मूल्य है। नेत्र विहीनों को देख कर ही

चक्षुओं की उपयोगिता प्रतीत होती है। मृत्यु से ही जीवन का मूल्य बढ़ता है और उन्नति के लिये प्रतिकूल परिस्थिति अनिवार्य है। ईश्वर की क्रूरता तो जब होती कि जब उसने उन्नति के साधन न दिये होते और अच्छे कर्मों के फलों का विधान न होता। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और फल भोगने में परतन्त्र। उसके फल भोगने के लिये ये भिन्न-भिन्न योनियां अर्थात् भिन्न-प्रकार के शरीर प्रदान किये गये हैं। विकासवाद अर्थात् जहाँतक प्राकृतिक विकास का सम्बन्ध है, आवागमन के सिद्धान्त का बड़ा पोषक है। पश्चिमी विज्ञान वालों के सामने स्पष्टरूप से यह सिद्धान्त न होने के कारण यह भ्रम उत्पन्न हुआ।

पूर्व जन्म के सिद्धान्त से क्रियात्मक लाभ

इस सिद्धान्त के महत्व को यह कह कर नहीं टाल सकते कि इसके मानने और न मानने से कोई विशेष प्रभाव क्रियात्मिक जीवन पर नहीं पड़ता। वास्तविक दृष्टि से हमारे जीवनको सफल बनाने के लिये इसमें विश्वास रखना अनिवार्य है। इस से निम्न लिखित लाभ प्रतीत होते हैं।

१—इसमें विश्वास रखने से मृत्यु का भय जाता रहता है क्योंकि इसमें विश्वास रखने वाला योनि या शरीर परिवर्त्तन को केवल पुराने कपड़े उतार कर नया कपड़ा पहनना समझता है। गीता का प्रसिद्ध वाक्य है—

वासांसि जीर्णानि यथाविहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।

२—मृत्यु का भय हमें सबसे अधिक कायर बनाने वाला है। और यदि हम इस भय से बच सकते हैं तो इस सिद्धान्त के आधार पर। इसलिये इसकी दूसरी उपयोगिता हमें कायरता से बचाना है। Caesar says about gaul: "they were brave

because they believed in transmigration सीजरने गोल जाति के विषय में लिखा है जो रोमनों के अन्तर्गत एक जाति थी कि वे इसलिये बहादुर थे कि वे आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे।

Gibbon says about Dasians. To the strength and fierceness of barbarians they added a contempt for life which was derived from a warm pursuation of the immorality and transmigraton of soul.

रोमन इतिहास का प्रसिद्ध रचयिता एक दूसरी जाति डेसियन के विषय में लिखता है कि उनके बल और परिश्रम का एक मुख्य कारण यह भी था कि वे जीव के अविनाशित्व और पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे।

३—सार्वजनिक प्रेम का आधार यह सिद्धान्त है, प्राणी मात्र से यदि हमें प्रेम करना है तो इसी सिद्धान्त से यह भावना वास्तविक रूप में हमारे अन्दर आ सकती है।

आत्मवत् सर्वभूतेषु वाली शिक्षा इसी से सफल होती है और यदि हमारे अन्दर यह धारणा हो कि हमारी सी ही आत्मा पशुओं और वनस्पतियों में निवास कर रही है तो हम कभी उन पर अत्याचार का साहस नहीं कर सकते। जब संकुचित भाव आते हैं तो इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं रहता। आज यूरुप में तो कुछ ऐसे भी लोग पाये जाते हैं कि जो न केवल पशुओं में ही बल्कि स्त्रियों में भी अपनी सी आत्मा नहीं मानते।

४—मांस भक्षण का निषेध होता है, जंगली से जंगली मनुष्य भी दूसरे मनुष्य का मांस भक्षण करना नहीं चाहता क्योंकि वह उनमें समानता समझता है। जब हम पशुओं को अपने से भिन्न समझते हैं तभी हम मांस भक्षण का विचार अपने अन्दर ला सकते हैं।

There sprang up in Empedocles from the belief in transmigrrtion of soul a dislike to flesh as food calcutta revised vol lx11 a 97,

कलकत्ता रिव्यू जिल्द बासठ पृष्ठ ९७ में एम्पीजेक्लीज के सम्बन्ध में लिखा है कि आवागमन के सिद्धान्त के अनुसार उसके अन्दर मांस भक्षण से घृणा उत्पन्न हुई। फ्रांस के प्रसिद्ध फिलासफर Voltaire ने यह सिद्ध किया है कि आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास भारतवर्ष में भूगोलिक दशा व ऋतुओं के आधार पर है। उसने इस प्रकार युक्तियाँ दी हैं—

1. India is hot.

2. Therefore meet eating is injurious.

3. Thus prohibited.

4. This created an affinity between man and animals.

5. This created an idea that the soul of man also takes birth in animals.

जिसका अर्थ यह है—

(अ) भारत उच्च देश है।

(व) इसलिये मांस भक्षण हानि कारक है।

(स) इसलिये निषेध हुआ।

(द) इसलिये मनुष्य और पशुओं में समानता स्थापित हुई

(य) और इससे यह भाव उत्पन्न होगया कि मनुष्य की आत्मा पशुओं में भी जन्म लेती है।

ये युक्तियाँ इस बात का प्रसिद्ध प्रमाण हैं कि विकासवादियों को उलटी ही सूझती है। वास्तविक बात तो यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार और वैदिक शिक्षा के अनुसार मांस भक्षण का निषेध था वालटेर ने कुछ का कुछ समझा।

५—सदाचार में सहायता मिलती है

पुनर्जन्म का भय पाप कर्मों के करने में बड़ा बाधक है। हम पाप करने का साहस उसी समय कर सकते हैं जब हमारे अन्दर उससे बचने की भावना उत्पन्न हो जाती है। जब अत्यन्त भोग-वाद प्रचलित होता है उस समय पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रहता या यों कह सकते हैं कि जब तक इस सिद्धान्त में वास्तविक व क्रियात्मक विश्वास रहता है। उस समय तक भोगवाद सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता। इसके दो प्रसिद्ध उदाहरण हैं। जब वाममार्ग प्रचलित था तो वह आत्मा को अनित्य मानते थे और उसके शरीर के साथ भस्मीभूत होजाने में विश्वास रखते थे। इसलिये उनके अन्दर पापकी वासनाएँ निरंकुशता से परिपूर्ण थीं आज पश्चिम में प्रकृतिवादियों का भी यही हाल है। सदाचार के लिये दण्ड विधान की आवश्यकता है और पुनर्जन्म सबसे अच्छा दण्ड विधान है।

६—इससे आशा उत्पन्न होती है यदि हमारे कोई अच्छे कर्म ऐसे रह जाते हैं कि जिनका फल अभी हमें नहीं मिला है तो हमारे अन्दर यह विश्वास रहता है कि आगामी जीवन में हम उसका फल पा सकेंगे।

७—आत्मघात की प्रथा में इससे रोक थाम होती है। आत्म-हत्या इस जीवन की किसी दुःखित अवस्था को समाप्त करने के लिये की जाती है। यदि आत्महत्या करने वाले के अन्दर यह दृढ़ धारणा हो कि जिस कर्म के फलस्वरूप उसकी यह दुःखित अवस्था है। उनका फल इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में भोगना ही पड़ेगा तो वह आत्मघात के विचार को मनमें स्थान नहीं देगा। जिन देशों में व्यावहारिक रूप से इस सिद्धांत पर विश्वास नहीं है। वहां आत्महत्याओं की संख्या बहुत अधिक है।

८—मानसिक शान्ति प्राप्त होती है यदि हम भरसक प्रयत्न करने पर भी किसी लक्ष्य की पूर्ति में सफल नहीं होते तो हमारे अन्दर बड़ी निराशा होती है और हम बहुत दुःखित होते हैं यदि संतोष प्राप्त होता है तो केवल इस आधार पर कि हमारे पूर्व जन्म के कर्मों का ही यह परिणाम था कि हम भरसक प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हुए। किसी मित्र या सम्बन्धी की मृत्यु के समय भी सन्तोष दिलाने का सबसे सुगम उपाय यही सिद्धांत है।

९—ईश्वर की सत्ता में सच्चा विश्वास इससे होता है। ईश्वर की न्याय प्रियता और उसकी दयालुता इससे भली भाँति प्रकट होती है और संसार की विषमता का समाधान इससे होता है। चेतन जगत् में न्याय करना फल प्रदान करना और कर्मों के अनुसार उनकी व्यवस्था करना ये ईश्वर के स्वाभाविक गुण और कर्म हैं और ईश्वर की सत्ता इस सारे चक्र में भली भाँति सिद्ध होती है।

१०—परोपकार के लिये भी उत्साह होता है। इसके आधार पर न हम केवल अपना आचरण ठीक कर सकते हैं परन्तु हमारे अन्दर परोपकार की भावनाएँ भी आ सकती हैं यदि हम प्राणी-मात्र को अपना सा समझेंगे तो उनसे न केवल मानसिक व हार्दिक प्रेम उत्पन्न होगा बल्कि हम औरों की भलाई के लिये भी उद्यत होंगे :

११—संसार में पाप वासनाओं के प्रवेश की पहेली भी हल हो जाती है आज विचार वालों के सम्मुख यह एक बड़ा आवश्यक प्रश्न है कि इस संसार में evil कहां से आया।

शैतान सम्बन्धी विचार

कोई इस मुसीबत से बचने के लिए कहीं पापों की उत्पत्ति का उत्तरदायित्व ईश्वर के मत्थे न पड़े शैतान रूपी एक स्वतन्त्र

सत्ता मानते हैं। वे इस दुःख सुख के प्रश्न को इसी एक जन्म से हल करना चाहते हैं। जब उन्हें वर्तमान दुःख का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दीखता तो वह निराश होकर यह कहने लगते हैं कि यह बुराई ईश्वर की ओर से नहीं बल्कि एक दूसरी शक्ति के आधार पर है।

evil (दोष) दो प्रकारके हैं एक तो Natural और दूसरे Moral। दोनों प्रकार के दोषोंके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विचार वालों के भिन्न भिन्न विचार हैं। प्राकृतिक दोष के सम्बन्ध में नवीन वेदान्त यह मानता है। कि ये दोष कुछ नहीं। केवल माया है। केवल माया कहने से यह बात हल नहीं हो सकती दुःख तो एक वास्तविक अनुभव होने वाली चीज़ है। इसे हम माया कह कर टाल नहीं सकते। प्रचलित Pantheism का भी यही सिद्धान्त है।

२—Dualism अर्थात् द्वित्ववाद इस दोष की उत्पत्ति एक प्रतिद्वन्द्वी के आधार पर मानता है। इनके भी दो विभाग हैं।

(अ) Detheism दो रकीब अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी खुदाओं में विश्वास रखता है। अर्थात् एक नेकी का खुदा और दूसरा बदी का खुदा। उदाहरण के लिए हम Zorostrians को ले सकते हैं जो अहर्मज़्द नेकी के खुदा में और अहर्मन् बदी के खुदा में विश्वास रखते हैं।

(ब) Conditional Deism अथवा Manicheism के अनुसार ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना अभाव से नहीं की बल्कि अनादि प्रकृति से की जो ईश्वर की भाँति अनादि थी। प्रकृति और ईश्वर का विरोध है इसलिए, वह ईश्वर की शक्ति का भी सामना करती है। और ईश्वर के अच्छे और पवित्र प्रयोजनों को नष्ट करती रहती है। इस प्रकार उनका विश्वास है कि संसार में यह पाप ईश्वर के सहारे नहीं है बल्कि प्रकृति के सहारे है। परन्तु यह सिद्धान्त बाह्य दृष्टि से भी भ्रममूलक है प्रकृति को

ईश्वर के समान शक्तिवाला नहीं मान सकते नहीं तो ईश्वर के महत्व और सर्वशक्तिमान होने में बट्टा लगेगा। उपर्युक्त कठिनाइयों से तंग आकर वे पाप की उत्पत्ति के कारण को ईश्वर में ही ढूढ़ने लगे। Schelling ने इससे बचने का एक उपाय निकाला है वह कहने लगा कि ईश्वर पापकी उत्पत्ति का कारण नहीं है बल्कि दैविक स्वभाव में एक अंग अन्धकार का है और उससे यह पाप उत्पन्न होता है। यह न कोई युक्ति है न उत्तर। Theism अर्थात् आस्तिकवादीयों ने एक और युक्ति निकाली उनका कहना है कि संसार सीमित है और संसार के अन्दर हर चीज़ सीमित व अल्पशक्ति वाली है। अल्पज्ञता से बाधा उत्पन्न होती है और और यह बाधा ही पाप का सब कारण है इसलिये जब ईश्वर ने जगत् की रचना की तो उसका ही परिणाम यह हुआ कि अल्पज्ञता के कारण पाप उत्पन्न हो गया। यह भी कोई उत्तर नहीं है।

Panentheism वाले यह विचार रखते हैं कि संसार में कोई चीज़ न बुरी है और न पाप है सभी चीजें आगे आने वाली भलाई के लिए हैं।

Hegal का मत इस प्रकार है।

Evil is a necessary step to good. Nothing is absolutily evil viewed trom the eternal point of view, what appears to us as an evil is nothing but a means for the realiasation of the good in the universe. Everything is good in its own place from the absolute and eternal point of view. it is owing to our limited understanding and imperfect apprehension that something appear to us evils.

जिसका अभिप्राय यह है कि इस समय जो दुःख या पाप प्रतीत होता है भावी भलाई के लिये है। इस सम्मति में एक अंश में सचाई है पूरी सचाई नहीं।

२—Moral Evil or Sin

(आचार सन्बन्धी पाप) इसके सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं परन्तु Deism Theism and panentheism ये सब इस बात पर सहमत हैं कि मनुष्य के कर्म करने की स्वतंत्रता ही इसका कारण है मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता दी गई है। और इसलिये यह पाप और पुण्य की विवेचना कर सकता है यदि वह पुण्य करने के लिये ही विवश होता। और पाप करने के लिये उसे स्वतंत्रता न होती तो उसकी दशा एक मशीन से अच्छी न होती। Matrtineau ने इस भाव को बड़े अच्छे शब्दों में प्रगट किया है।

It is because He is holy and cannot be content with an Immoral world where all the perfection is given and none is earned, that he refuses to render quite impossible and inward harmony mechanical.

"चूंकि ईश्वर पवित्र है और वह ऐसे संसार से संतुष्ट नहीं हो सकता जहां सारी पवित्रता दान रूप में मिल जावे और जिसके लिये कोई कमाई न करनी पड़े इसलिये वह पाप की वासना को जड़ मूल से नष्ट करना नहीं चाहता और आन्तरिक सदाचार को एक मशीन का रूप देना नहीं चाहता।" इन सब सम्मतियों को देखने से पता चलता है कि ये सारी सम्मतियां टटोल में है। मार्टीन्यू प्राचीन वैदिक सिद्धान्त का अवश्य पोषक है इसका सब से उत्तम समाधान यही है कि जीव एक अनादि सत्ता है जो कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है।

ज्ञान की उत्पत्ति

जीव के स्वाभाविक गुणों में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति एक आवश्यक गुण है। प्रश्न यह है कि संसार में जो विद्या या ज्ञान प्रचलित है इसको जीव ने स्वयं अपने उद्योग से उपार्जन किया है या इस ज्ञान के भण्डार का निमित्त कारण ईश्वर है और जीव में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है और उस दैवी कोष से वह ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान की उत्पत्ति का विषय मानसिक विकास वादियों से सम्बंधित है जिसका कि सबसे प्रबल पोषक हर्बर्ट स्पेन्सर है। वैदिक सिद्धान्त इस सम्बन्ध में स्पष्ट है। ऋषि दयानन्द ने इसको समझाने के लिये नेत्र और सूर्य की अच्छी उपमा दी है सूर्य प्रकाश का पुंज है नेत्र प्रकाश से लाभ उठाने का साधन हैं नेत्र और सूर्य का आवश्यक सम्बन्ध है। विना सूर्य के प्रकाश के नेत्र कार्य्य नहीं कर सकते और विना नेत्रों के सूर्य के प्रकाश से भी कोई लाभ नहीं। ज्ञान के अन्तर्गत दो बातें आती हैं एक भाषा दूसरे विचार Language Plus idea Completethe Range of Kuowledge विना भाषा के न केवल यह कि हम दूसरों तक अपने विचार प्रकट नहीं कर सकते बल्कि हम अपने अन्दर भी विना भाषा के शृंखलाबद्ध विचार उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिये यदि मैं अपने मन में भी यह कहूं कि मैं प्यासा हूं, पानी पीऊंगा तो मेरे लिये पानी प्यास और पीने के अर्थ जानना आवश्यक होगा। इसलिये ज्ञान की उत्पत्ति के साथ साथ भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का घनिष्ट सम्बन्ध है। Schelling का कहना है कि "Without language it is impossible to conceive philosophical nay any human consciousness" अर्थात् भाषा के विना दार्शनिक ही क्या किसी प्रकार के ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती।

मैक्समूलर का कथन है कि Thought in the sense of reasoning is not posssible without language. अर्थात् विचार यदि उसका अर्थ मनन या तर्क हो तो विना भाषा के सम्भव नहीं ।

भाषा की उत्पत्ति की पहेली पर अत्यन्त प्राचीन काल से विचार होता आया है। यह तो प्रायः अनेक भाषातत्व विशारदों ने स्वीकार कर लिया है कि संसार की सभी भाषाओं का एक दूसरी से कुछ न कुछ सम्बन्ध है और बहुत सम्भव है कि उन सबकी एक मूल भाषा रही हो। परन्तु आरम्भ में कौन भाषा थी और उसका जन्म कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएं हैं। भारतीयों का यह विश्वास है कि वह आदिम भाषा वेद की भाषा है जो आधुनिक संस्कृति का प्राचीन रूप है और सृष्टि की आदि में परमात्मा ने स्वयं चार ऋषियों के हृदय में उसका प्रकाश करके संसार में फैलाया। जब से पाश्चात्य जगत् में भाषा विज्ञान नामक; शास्त्र अध्ययन आरम्भ हुआ। इस सम्बन्ध में अनेक विद्वान् सहमत हो चले हैं वैदिक संस्कृत आदिम भाषा के अति निकट की भाषा है । मैक्समूलर ने यद्यपि उसे भाषाओं की जननी नहीं माना पर सब से बड़ी बहन अवश्य बताया है।

आदिम भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ईश्वर प्रेरणा और वेद को न मानने वालों ने अपनी अपनी अक्ल दौड़ाई है । वास्तव में संसार में अनेक परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि मानव शिशु विना सिखाये स्वयं कोई भाषा नहीं सीखता। यूनान देश के सेमीटिक्कल बादशाह के सोवियन बादशाह फ्रेडरिक सैकिनने स्काटलैंड के राजा जेम्स फोर्थ ने तथा सम्राट अकबर ने भी ऐसे परीक्षण किये थे। देखो Transaction s of victoria Institute Vol 15. p. 336.

भाषा की उत्पत्ति और विकासवाद

परन्तु विकासवाद के कारण जिनका मस्तिष्क अत्यन्त प्रभावित हो चुका है, उन लोगों ने कई एक कल्पनाएं भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में की हैं। Locke ने कहा है सृष्टि को आदि के मूक मनुष्य इङ्गित भाषा से अपने भाव प्रकट करते थे, पीछे सबने सलाह करके कुछ शब्द और उनके अर्थ निर्धारित कर लिये। यह Convention का सिद्धान्त कहलाता है परन्तु इसमें यह प्रश्न खड़ा रह जाता है कि कृत्रिम चिन्हों को निर्धारित करने और उनके अर्थ निश्चित करने का नाम क्या बिना भाषा के कभी सम्भव है?

दूसरी कल्पना यह है कि पास पड़ौस में रहने वाले पशु-पक्षियों के शब्दों की नकल कर के भाषा उत्पन्न हुई, परन्तु प्रचलित भाषाओं के अध्ययन से पता चलता है, कि ऐसे शब्द नहीं के बराबर हैं और उनसे अन्य शब्द नहीं बनते।

इसी प्रकार हर्ष, दुख, भय आदि के आकार मिल उद्गारों से भाषा का जन्म हुआ यह तीसरी कल्पना है। उसमें भी कोई सार नहीं है। अतः विवश होकर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सृष्टि की आदि में परमात्मा ने स्वयं मनुष्य को शब्द अर्थ और उनके सम्बन्ध का ज्ञान दिया। मेक्समूलर ने भी यह स्वीकार किया है कि "संसार में ऐसा कहीं उदाहरण नहीं मिलता कि कोई पशु उन्नति करके मनुष्य की सी बोली बोलने लगा हो।"

जो बात भाषा की उत्पत्ति के विषय में है वही ज्ञान और विचारों की उत्पत्ति में भी घटती है। मनुष्य की स्वाभाविक चेतना उन्नति नहीं करती जब तक उसमें बाह्य प्रेरणा न हो। दूसरों के सिखाए पढ़ाए बिना वह निरा पशु रहता है। भेड़िये आदि जंगली पशुओं के पास रहने वाले बच्चों ने कोई उन्नति

नहीं की यह अनेक बार देखा गया है। अतः मनुष्य के ज्ञान देने वाला आदि गुरु परमात्मा ही मानना पड़ेगा। ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज के नियमों में लिखा है कि "सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।" पतञ्जलि महर्षि भी कहते हैं:—"स पूर्वेषामपि गुरुःकाले नानवच्छेदात्।"

इस सिद्धान्त की पुष्टि में एक प्रमाण यह भी है कि संसार की सभी जातियाँ अपने अतीत को गौरव पूर्ण बतलाती हैं। अमेरिका के रेड इण्डियन का विश्वास है मनुष्य की पहली अवस्था सब से अच्छी थी और पूर्व काल में वे भी पूर्ण सभ्य थे। भारतवर्ष की एक सिंहधूल नामक जंगली जाति के विषय में बताया जाता है कि वे यह विश्वास करते हैं कि प्राचीन काल में उनका देवताओं से सम्बन्ध था। अफ्रीका की कतिपय जातियों का विश्वास है कि प्राचीन काल में स्वर्ग अधिक समीप था—और मनुष्य को ज्ञान परमात्मा ने ही दिया है और पीछे वह दूर चला गया है।

बैबिलोनियाँ निवासियों का विश्वास है कि आरम्भिक दशा हर तरह से पूर्ण थी और पवित्र ज्ञान परमात्मा का दिया हुआ सृष्टि के आरम्भ में प्रकाशित होता है। उपर्युक्त उदाहरणों के लिये देखो—

Journal of the Transactions of the Victoria institute Vol 19 P. 125-109. The Herbert Lecture By Prof. Maxmuller P. 175. Encyclopedia of Religion And Ethics Vol 5 P. 1877

इसी प्रकार के अन्य उद्धरण श्री ताराचन्द गाजरा एम. ए. के ऋषि दयानन्द के जीवन चरित्र में दिये गये हैं यदि ज्ञान की क्रमिक उन्नति हुई होती तो संसार की दशा दिन प्रतिदिन दुःख

मय होती जाती। आज संसार में भारी अशान्ति है जिसका कारण ज्ञान के दाता ईश्वर को भुला देना ही है। यदि मनुष्य अपने ज्ञान का अभिमान रखता और ईश्वर को उसका जनक समझता तो वह सुख शान्ति के निकट रहता।

कोई कोई यह शंका कर सकते हैं निराकार ईश्वर ने मनुष्य को भाषा कैसे पढ़ाई या ज्ञान कैसे दिया। इसका सरल समाधान यह है कि ईश्वर व्यापक होने से मनुष्य के हृदय में भी विद्यमान है फिर शरीरादि बाह्य साधनों की भी आवश्यकता है।

ज्ञान की दैवी प्रेरणा को पाश्चात्य जगत् के भी कतिपय विद्वानों ने स्वीकार किया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

जो ज्ञान के विकास में विश्वास नहीं करते उनका कहना है कि सभ्यता एक देश से दूसरे देश जाती आती रहती है इसे Theory of Transmission of culture कहते हैं। इस सिद्धान्त के निर्धारण कर्त्ता और पोषक River और Von Hum Bolt महाशय थे।

महाशय perry ने अपनी पुस्तक Children of The Sun में लिखा है—

"यह विचार कि मनुष्य के ज्ञान में धीरे धीरे उन्नति हुई है भ्रम मूलक अनुभवों के प्रतिकूल और सर्वथा त्याज्य है,,

Edward Carpenter ने Art of creation में लिखा है कि किसी नवीन विज्ञान की न हमें खोज करने की आशा हो सकती है और न इच्छा ही करनी चाहिये जो विचार वेदों में संक्षेप में दिये हुए हैं उन्हीं का प्रभाव प्रत्येक विद्वान और वैज्ञानिक के ऊपर पड़ा है—

Mauriecphillips ने अपनी पुस्तक Teaching of the Vedas के पृष्ठ १०४ पर सिद्ध किया है कि संसार में ज्ञान की उत्पत्ति

की पहेली को कोई हल नहीं कर सकता जब तक वह ईश्वरी ज्ञान की आवश्यकता सृष्टि की आदि में न मान ले"

जीव के लक्षणों की विवेचना।

जीव के निम्नलिखित स्वाभाविक गुण बताये गये हैं।

(१) ज्ञान
(२) इच्छा।
(३) द्वेष
(४) प्रयत्न
(५) सुख
(६) दुःख

इच्छा और द्वेष के कारण जो हम कार्य करते हैं उनका ही नाम प्रयत्न है। इच्छा के कारण हम किसी चीज की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं और द्वेष से यह अभिप्राय है कि हम उसको अपने से परे हटाना चाहते हैं। इच्छा द्वेष प्रयत्न का मिलकर नाम कर्म है। यदि हम प्रयत्न में सफल होंगे तो परिणाम सुख होगा। यदि असफल होंगे तो परिणाम दुःख होगा। सुख दुःख कर्म पर आश्रित हैं। और यही दोनों मिलकर भोग सिद्ध होते हैं। हम यूँ भी कह सकते हैं कि भोग ही कर्म का परिणाम है और भोग भी कर्मों द्वारा ही प्राप्त होता है। इसलिए जीव के दो मुख्य गुण हैं। ज्ञान और कर्म। इसलिए धर्म के सारे सिद्धान्त ज्ञानकांड और कर्मकाण्ड के अन्तरगत आ जाते हैं। उपासना काण्ड भी अर्थात् ईश्वर की उपासना भी एक विशेष प्रकार का महत्व पूर्ण कर्म है। और मोक्ष भी एक भोग का एक महान् सुन्दर अति विशाल महा आनन्द मय रूप है। इसलिए यदि हम जीव के ज्ञान और कर्म रूपी लक्षणों का ध्यान पूर्वक विवेचना करलें तो जीव का स्वरूप भी समझ में आजाता है।

और जीव का ईश्वर और प्रकृति से संबन्ध भी भली-भांति समझ में आजाता है। ज्ञान और कर्म जीव के स्वाभाविक गुण हैं। परन्तु यह विचारना है कि इनको उपयोग में लाने के लिए आवश्यकता किन-किन साधनों की है। ज्ञान को दृष्टि में रखकर निम्नलिखित उपाय आवश्यक है।

(१) ज्ञान के भंडार या ज्ञान के आदि स्रोत की—क्योंकि जीव में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है परन्तु विना किसी निमित्त के वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इस विषय की अधिक विस्तृत विवेचना इस पुस्तक के उस स्थल पर की गई है जहाँ ज्ञान उत्पत्ति के विषय पर प्रकाश डाला गया है।

(२) ज्ञान उपार्जन के साधन अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ।

(३) ज्ञान प्राप्त करने के लिए पदार्थ अर्थात् ज्ञेय जगत।

इसी प्रकार कर्म की दृष्टि से अर्थात् कर्म और भोग दोनों की दृष्टि से निम्नलिखित साधन आवश्यक हैं।

(१) कर्म इन्द्रियाँ।

(२) भोग पदार्थ।

इसी लिये इस संसारके रचना का प्रयोजन यही बताया गया है कि जीवों को भोग और अपवर्ग का अवसर प्राप्त हो और इसी लिये कहा है कि 'भोग-अपवर्गं दृश्यं' यह सांख्य दर्शन का सूत्र है। और इससे जीव और जगत का अर्थात् जीव और प्रकृति का सम्बन्ध भली भाँति जाना जा सकता है। यह दृश्य जगत प्रकृति का व्यक्त रूप है अर्थात् प्रकृति रूप धारण करने के पश्चात् इस जगत के रूप में दिखलाई देती है। नाम और रूप इसके आवश्यक अंग हैं। जीव को ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है जो सर्वज्ञ सर्वज्ञाता और सर्व व्यापक हो और कर्मों का फल प्रदान करने के लिए अथवा कर्म

और भोग की व्यवस्था मर्यादित रखने के लिए एक दयालु न्याय-कारी और सर्व शक्तिमान शक्ति की आवश्यकता है। इस जगत के परिवर्तन के कुछ नियम काम कर रहे हैं जो अटल हैं। ये नियम एक निर्माता के द्योतक हैं। और उस निर्माता के महान बुद्धिमता के परिचायक हैं। वह निर्माता अपरिवर्त्तनशील होना चाहिये अर्थात उसका अजर अमर अनादि व अनन्त सत्य चित व आनन्दमय होना अनिवार्य है और इस प्रकार जीव की विवेचना से जीव ईश्वर और प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध और उनका अनादि होना सिद्ध हो जाता है। यह संसार रूपी पहेली सहज में समझ में आ जाती है।

मोक्ष

जीव सम्बन्धी विवेचना से मोक्ष का विषय घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। क्योंकि जीव के सारे कर्म और जीवन का प्रयोजन मोक्ष प्राप्ति को लक्ष में रखकर ही है। मनुष्य सब प्राणियों में उच्च इसलिये माना जाता है। कि कर्म करने व मोक्ष प्राप्त करने का अवसर इस योनि में ही मिलता है और शेष सब प्राणी केवल भोग योनि में हैं जो मनुष्य शरीर प्राप्त करके भूल करता है वह जन्म मरण के चक्कर में पड़ जाता है और उसको अनेक प्रकार की पशु पक्षी और वृक्षतर की योनि में जाना पड़ता है। कहते हैं कि पाप का सिर नीचा होता है ऐसा क्यों कहते हैं यह बात सारे प्राणी जगत को लक्ष में रखकर समझ में आजाती है। सारे प्राणियों में केवल मनुष्य ऐसा है जो सीधा सिर उठा कर चलता व कर्म कर सकता है शेष सब प्राणी कुछ न कुछ झुके हुए रूप से ही अपने शरीर का आकार रखते हैं। वृक्षों में तो बिल्कुल उल्टी ही दशा है। उनका सिर नीचे और पैर ऊपर हैं। सिर शरीर के उस अंग का नाम है जहां से खाद्य पदार्थ शरीर में प्रवेश करते हैं। वृक्षों में खाद नीचे से ली जाती है।

और मनुष्य की दशा में जो जीव महान अन्धकारमय कर्म करते हैं उनका सुधार इस प्रकार महातमस की दशा में रखकर किया जाता है। विकास वादियों ने भी मनुष्य को सब से अधिक विकसित दशा में इसलिये माना है कि वह सीधा होकर चलता है। इससे कम विकसित वह माने हैं जो चलते तो चारों पैरों पर हैं परंतु आवश्यकता पड़ने पर दो पैरों पर खड़े हो सकते हैं। जैसे लंगूर और बन्दर। इससे यह भी पता चलता है। कि मनुष्य योनि से हम ठीक कर्म करने पर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् एक सीमित समय के लिए इस जन्म मरण के चक्कर से बच सकते हैं। और ऐसी दशा में रह सकते हैं जहाँ सुख दुःख व बन्धन न होगा केवल आनन्द ही आनन्द होगा और न प्रयत्न अथवा इच्छा द्वेष की उलझने होंगीं।

मोक्ष का स्वरूप

जिस प्रकार जीव के स्वरूप को न समझ कर अनेक भ्रम-मूलक विचार फैले जिनका वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र किया जा चुका है इसी प्रकार मोक्ष का वास्तविक अभिप्राय न समझ कर बहुत से भ्रान्ति मय विचार संसार में फैल रहे हैं जैसे जीव को भूल के कारण या तो ईश्वर का माया से आच्छादित रूप मानते हैं या प्रकृति का विकसत रूप। इसी प्रकार मोक्ष को भी भिन्न-भिन्न विचारों के आधार पर उसके स्वरूप को अपनी अपनी दृष्टि कोण से वर्णन करते हैं। इस संसार में मुख्यतया दो प्रकार के मनुष्य हैं, एक भोगवादी दूसरे त्याग-वादी। त्यागवादी इस जीवन में भी जीव को एक अति तुच्छ पदार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और उनका आदर्श कम से कम भोग करना है और यह त्यागवादी सम्प्रदाय मोक्ष को भी शून्य वाद के रूप में प्रचार करते हैं जिस दशा में जीव को न सुख हो

न दुख हो। केवल नाम मात्र की सत्ता रह जाये अर्थात् उसके सारे कार्यों का हिसाब किताब निबट कर केवल शून्य या Zero रह जावे यह दशा उनकी दृष्टि में सबसे उत्तम है। गौतमबुद्ध के अनुयाइयों का यही दृष्टिकोण है। इसके अतिरिक्त भोगवादियों में भी दो प्रकार के विचार रखने वाले हैं। एक तो वह जो अत्यन्त भोग-विलास के अभिलाषी हैं जैसे वाममार्गी जिनका वैज्ञानिक रूप वाक दर्शन है। महान् भोगविलास वाले न तो आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं और न मोक्ष में। वह तो इस शरीर को क्षण भंगुर मानते हैं और इसका भस्मीभूत हो जाना ही इसका अन्त समझते हैं और वह बात संसार का वैज्ञानिक इतिहास सिद्ध करता है कि जब जिस जाति व देश में महान् भोगवाद प्रचलित होता है, वहाँ नास्तिकता फैल जाती है और जीव का पूर्व जन्म और भविष्य जन्म नहीं माना जाता। भारतवर्ष में वाममार्ग के समय में Eat, drink and be Merry का जोर था अर्थात् खाओ पिओ मौज करो यही जीवन का लक्ष्य था। इसलिये नास्तिकता प्रचारक चार्वाक ने जोर पकड़ा। आज पश्चिमी जगत् में भोगविलास प्रबल रूप से प्रचलित है और वहां भी नास्तिकता प्रचलित हैं। और जीव को केवल जड़ प्रकृतिका एक विकसित रूप ही मानते हैं। बहुत से स्वार्थवश ऐसे मन चले हैं। कि न केवल पशु पक्षियों में अपनी सी आत्मा नहीं मानते हैं। अपितु स्त्रियों में भी कोई कोई आत्मा नहीं मानते। इसलिये न महान् त्यागवादी न महान् योगवादी मोक्ष के स्वरूप को ठीक ठीक समझ सके। केवल वह लोग जिनका भोगवाद मर्यादा के अन्दर है वह ही मोक्ष के स्वरूप को ठीक ठीक समझ सकते हैं। उनमें भी दो प्रकार के हैं। एक वह कि जो मोक्ष की दशा को इन प्राकृतिक सुखों का एक विस्तृत और विशाल संस्करण मानते हैं। उनका यह विचार है कि इस संसार

में हमको अच्छे कर्म करने से अच्छा सुख प्राप्त होता है और सुख के साधन इस संसार में धन वैभव स्त्री और सम्पत्ति है वह मोक्ष से अभिप्राय यह समझते हैं कि बहुत ही अच्छे काम करने से मोक्ष में बहुत ही बड़ा सुख या सबसे बड़ा सुख मिलेगा। सुख का स्वरूप वही होगा केवल उसकी quality और quantity में अन्तर होगा। यहाँ एक या दो स्त्री से सुख मिलता है वहाँ अनेक अप्सराएं या हूरें होंगी—यहाँ थोड़े दूध से सुख मिलता है वहाँ दूध और शहद की नहरें होंगी। यहाँ बड़ी हवेली और महल से सुख मिलता है वहाँ बड़े बड़े विशाल भवन होंगे। यहाँ के बागों में मौसम पर ही फल आते हैं मोक्ष रूपी स्वर्ग के बाग में हमेशा मेवों से लदे हुए और हर प्रकार के मेवों से लदे हुए दरख्त होंगे। इस प्रकार की धारणा हमारे ईसाई और मुसलमान भाइयों की है और कुछ कुछ प्रभाव हमारे पौराणिक भाइयों पर भी है। ऐसे मोक्ष का स्वरूप मानने वाले पर मानना नहीं चाहते कि जो सुख उनको प्राप्त हो गया है या हो जावेगा उसका कभी अन्त हो और इसलिये वह मोक्ष को और बहिश्त को सदैव के लिये प्राप्त होना मानते हैं और इसी लिये मोक्ष सम्बन्धी वैदिक सिद्धान्त लुप्त होने के पश्चात् भ्रम मूलक विचार मोक्ष के सम्बन्ध में फैल गये। ऋषि दयानन्द ने उपरोक्त सब भ्रमों का निवारण करके मोक्ष के वास्तविक रूप को हमारे सामने रखा और यह सिद्ध किया कि यदि मोक्ष हमारे सीमित कर्मों का फल है तो उसका अन्त अवश्य होगा और यह भी दर्शाया कि मोक्ष की अवधि बहुत बड़ी और विशाल है और इस दशा में जीव अपने स्वाभाविक ज्ञान से ईश्वर के समीप आनन्द के साथ सब प्रकार के बन्धनों से रहित होकर विचरेगा और ईश्वर से वास्तविक रूप में उसका साक्षात् होगा

और ईश्वरी सामीप्य के आनन्द को अनुभव करेगा ईश्वर सर्व व्यापक अवश्य है परन्तु जीव अल्प शक्ति वाला और एक देशीय है। जब तक प्रकृति के बन्धनों से जकड़ा रहता है उस समय तक वह असली आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वर के अति निकट और समीप होते हुए भी वह उसके दर्शन तथा अनन्य आनन्द को भी प्राप्त इस जीवन में पूर्ण रूप से नहीं कर पाता। बन्धन से छूटना ही मोक्ष है। पूर्व इसके कि हम मोक्ष के सम्बन्ध में वैदिक सिद्धान्त और अन्य मतों का सिद्धांत प्रकट करें यह भी आवश्यक है कि मोक्ष के साधनों के विषय पर भी कुछ विचार कर लिया जावे। जैसा भ्रम मोक्ष के स्वरूप के विषय में है, उससे ज्यादा मोक्ष के साधनों के विषय में है। मनुष्य स्वभाव से आशावादी है और कड़े परिश्रम से बचना चाहता है उसको इस जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए सस्ते नुसखे अथवा सरल मार्ग की खोज रहती है। शारीरिक रोग की दशा में वह यह पसन्द नहीं करता कि उसको बड़ी मिकदार में कड़वी अरुचि कर औषधि सेवन करनी पड़े यदि किसी के दूर से झाड़ा फूकी करने पर या किसी दूसरे के जाप और अनुष्ठान करने से वह अच्छा हो जाये या उसको अच्छा होने की कोई आशा दिलावे तो वह अत्यन्त प्रसन्न होता है और इस प्रकार इलाज करने वाले के लिए वह सब कुछ भेंट करने के लिये तय्यार है। ऐसे ही भावों के कारण जादू टोना मन्तर-जन्तर और पीरों-फकीरों की बहुत पूछ और मानता इस संसार में होगई है। जिस प्रकार का सौदा अर्थात् व्यवहारिक दृष्टि मनुष्य की इस जीवन में रहती है वैसी ही वह व्यवहारिक दृष्टि से मोक्ष का सौदा करना चाहता है जो सरल उपाय बताये उस की ही बड़ी मानता गंगा में डुबकी, राम का नाम, गुरुओं का चरण-स्पर्श, गुरुओं का झूठा खाना यह सब मोक्ष के बाजार में

चढ़े प्रचलित सौदे हैं। जब मनुष्य को अपने कर्मों से मोक्ष प्राप्ति की निराशा होती है तो वह उसके परिणाम से बचने के लिए उपाय सोचता है, अदालतों में मुकद्दमा लड़ने वाले जो जीतना चाहते हैं वह सिफारिश ढूंढते हैं वह रिश्वत देने के इच्छुक रहते हैं। यही दशा नौकरियाँ प्राप्त करने वालों की है। जब अपने कर्मों के भरोसे निजात या मोक्ष प्राप्ति की आशा नहीं रहती तो पैगम्बर या शफीआ या हिमायती ढूंढे जाते हैं। कोई गाय की दुम पकड़ कर इस कर्मों की वैतरणी को पार होना चाहता है कोई ईसा मसीह और हजरत मुहम्मद साहब के सहारे मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और मोक्ष के जगत में ऐसे सब उपाय बड़ा मूल्य रखते हैं और दुनियां अधिकतर उनकी तरफ झुकती है। ऋषि दयानन्द सबसे पहिले सुधारक थे, जिन्होंने न केवल मोक्ष के वास्तविक स्वरूप को हमारे सन्मुख रखा परन्तु मोक्ष के साधनों को भी हमें ठीक-ठीक प्रकार से समझाया। मोक्ष प्राप्ति की तय्यारी माता के गर्भ से आरम्भ होती है। सारे संस्कार इसी प्रयोजन के लिए हैं और शिक्षा भी इसी अभिप्राय से है। शिक्षा और संस्कार से मनुष्य तय्यार मोक्ष पद पर चलने के लिए होते हैं और उनको पाँच महान् यज्ञ करके इसका अभ्यास करना पड़ता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए भय और नियमों का पालन करने के लिए और प्राणायाम धारणा, ध्यान, समाधि के उपायों को काम में लाना अनिवार्य है। यह कार्य क्रम बहुत कठिन और विस्तृत है परन्तु यही मोक्ष प्राप्ति का साधन हो सकता है। मनुष्य की इन्द्रियाँ वहिर्मुख है। ये इन्द्रियाँ और चंचल मन जीव को भोगवाद के झंझट में डालते रहते हैं। शिक्षा संस्कार उपासना और प्रार्थना और शुभ कर्म इस अभिप्राय से हैं कि मनुष्य अपने मन इन्द्रियों को शान्त और वशीभूत करलें

और इस जगत् व प्रलोभनों से बच जावे तो ईश्वर का साक्षात् और प्रत्यक्ष होजावे। उसके जीवन का उद्देश पूरा हो। जो भोगी और त्यागी है और ईश्वर भक्त है, संसार के प्रलोभनों से परे हैं वह जीवन मुक्त कहलाते हैं। वास्तविक दृष्टि में वही सुखी हैं जिनके अन्दर मानसिक भाव भोगवाद के सम्बन्ध में मर्यादित हैं वह सुखी नहीं जिनके पास भोग विलास की मात्रा अधिक है। ऋषि दयानन्द सब कुछ त्याग कर केवल एक लंगोटी लगा कर सैकड़ों धनवान और अनेक कपड़े पहनने वालों से अधिक सुखी शान्त और आनन्द में थे। आज तीन चौथाई नंगे रहने वाले महात्मा गांधी संसार के लिये पूज्य हैं। ईसा मसीह का आदर इसलिये है कि उन्होंने त्याग और प्रेम की शिक्षा दी और अपने जीवन से एक त्याग और प्रेम का एक उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया। इन जीवन मुक्तों के जीवन से मोक्ष के स्वरूप की झलक समझ में आ सकती है और उसके साधन भी समझ में आजाते हैं। केवल हमारे मानसिक भाव उच्च हों तो हमारे पास संसार के भोग की सामग्री न होते हुए भी हम सुखी व आनन्दित रहते हैं व रह सकते हैं। इसीलिये कहा है कि यह लोक-परलोक का एक छोटा चित्र है। फिर ऐसे उज्ज्वल और जीवित उदाहरणों को लक्ष में रख कर यह शंका कर सकते हैं कि यदि मोक्ष में भोग पदार्थ न होंगे या सीमित समय के लिये होंगे तो हमें क्या आनन्द मिलेगा जो मोक्ष का स्वरूप वैदिक धर्म की शिक्षा के अनुसार ऋषि दयानन्द ने हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है वही युक्ति-युक्त और सब प्रकार से सिद्ध है। आज बड़े बड़े महाराजा और शहनशाह भी चिन्तित व दुखी रहते हैं। इसलिये राजपाट सुख प्राप्ति के वास्तविक साधन और मोक्ष में इनकी आवश्यकता है। हमारे आत्मा में बिना सामग्री के सुख अनुभव करने की शक्ति अथवा सामग्री न प्राप्त

करने की अभिलाषा ही सुख का साधन और उपाय है और इसी वृद्धि का अति विकसित होना मोक्ष की दशा में आत्मा को मोक्ष के आनन्द को अनुभव करने के लिए योग्य बनाना है। बहुतों का यह कहना है कि मोक्ष की दशा में यदि यह ज्ञान रहेगा कि यह मोक्ष समाप्त होने वाला है तो दुख न होते हुये इसकी समाप्ति का खटका ही लगा रहेगा। यह भी इनका भ्रम है। जिस प्रकार मृत्यु एक शरीर परिवर्तन का साधन है और मृत्यु से नवीन पटाक्षेप आरम्भ होता है इसी प्रकार मोक्ष की दशा का अन्त होना है। जो योगी है और विद्वान् हैं उन्हें न मृत्यु से भय रहता है और न मृत्यु का खटका। वह मृत्यु को एक अनिवार्य रूप से आने वाली घटना समझते हैं और उन्हें मृत्यु से कोई भय नहीं लगता। इसी प्रकार जिनकी योग और त्याग की वृत्तियाँ अतिविकसित हैं, उनको वास्तविक बात जानने से कभी दुःख या उदासीनता नहीं अनुभव होती बल्कि वह तो अपने सीमित कर्मों का फल प्राप्त करने के पश्चात् पुनः कर्म करने का अवसर मिलने पर बड़े आनन्दित होते हैं। संसार में सुन्दरता विभिन्नता में है। एक फिलोस्फर का कथन है कि Beauty is contra- मृत्यु की उपस्थिति से ही जीवन का मूल्य है। गालिब एक उर्दू का कवि हुआ है, उसका एक प्रसिद्ध शेर है—

"न हो मरना तो जीने का मजा क्या है।" विलायत के प्रसिद्ध कवि टैनीसन ने भी अपनी एक कविता— "Lotus eaters" में इसी भाव को प्रकट किया। यह कविता एक कल्पना के आधार पर है। कवि ने यह कल्पना की है कि एक समय उपासकों ने सदैव के लिए मृत्यु से छूटने और अमर पद प्राप्त करने की याचना की। ईश्वर ने उनकी इस कल्पना को स्वीकार कर लिया और बहुत समय उनको इस अमर

दशा में रहते हुए व्यतीत होगया। जब बहुत समय तक एक शाही आनन्द और बिना परिश्रम का जीवन उनका रहा तो उनके अन्दर दशा परिवर्तन की इच्छा उत्पन्न हुई और उन्होंने ईश्वर से उस वरदान को वापिस लेने की प्रार्थना की। ईश्वर ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और वह मृत्युलोक में भेजे गये। यह कविता कल्पना मात्र है परन्तु इससे एक अंश में वैदिक सिद्धान्त की पुष्टि होती है। वैदिक-सिद्धान्त का आधार मर्यादा पर है वह अत्योक्ति से वंचित है। प्रशंसा और निन्दा दोनों ही मर्यादा में होना आवश्यक है न बुरे कर्मों से बचने के लिए हमेशा की दोज़ख का डर है और न कर्मों की प्रेरणा के लिए हमेशा के बहिश्त का झूठा प्रलोभन। महर्षि ने मोक्ष का वास्तविक और कठिन स्वरूप हमारे सामने रखा और इसलिये उनके अनुयाइयों की संख्या भी न्यून है और न उनके अनुयाइयों में अन्ध विश्वास। इससे ऋषि की सफलता कम नहीं होती बल्कि उन का महत्व और बढ़ता है। ऋषि ने मोक्ष के साधन और मोक्ष प्राप्ति के उपाय ठीक ठीक हमारे सम्मुख रखे हैं।

अब तक हमने मोक्ष के सम्बन्ध में यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि मोक्ष का स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्ति के क्या साधन हैं और यह भी केवल तर्क के आधार पर निवेदन किया है। अब मोक्ष के सम्बन्ध में दो आवश्यक प्रश्न और रह जाते हैं।

मोक्ष में जीव कहाँ रहता है?

पहला प्रश्न यह है कि जीव मोक्ष प्राप्त के बाद कहाँ रहता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये या मोक्ष प्राप्त किये हुये जीवों के लिये कोई विशेष स्थान है या मोक्ष जीव की अवस्था विशेष का नाम है। साधारण तया यह विश्वास है कि मोक्ष प्राप्त किये हुये

जीव स्वर्ग में रहते हैं। स्वर्ग ऊपर आकाश की ओर है। इसी प्रचलित विचार के अनुसार ईसाई स्वर्ग को चौथे आसमान पर व हमारे मुसलमान भाई सातवें आसमान पर और जैनी भाई एक विशेष शिला पर, ये सब विचार भ्रम मूलक हैं। ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के नवे समुल्लास में जो विचार प्रकट किये हैं उनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मोक्ष केवल अवस्था विशेष का नाम है उसका किसी स्थान विशेष से अथवा देश विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऋषि दयानन्द के वाक्य हम नीचे उद्धृत करते हैं:—

"जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द को जीव आत्मा भोगता है। यह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टि विद्या को क्रम से देखता हुआ, सब लोक लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते उन सब में घूमता है वह सब पदार्थों को जो इसके ज्ञान के आगे है देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उसको सब संग्रहीत पदार्थों का भान यथावत् होता है, यही सुखी विशेष स्वर्ग और विषय तृष्णा में फंस कर दुख विशेष भोग करना नरक कहाता है। "स्व" सुख का नाम है। "स्वःसुखं गच्छति यस्मिन् स्वर्गः" अतो विपरीतो दुख भोगो नरकः इति" जो सांसारिक सुख है वह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है वही विशेष स्वर्ग कहलाता है। सब जीव स्वभाव से सुख प्राप्ति की इच्छा और दुःख का वियोग होना चाहते हैं परन्तु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते तब तक उनको फल का मिलना और दुःख का छूटना नहीं हो

सकता। ऋषि ने नवम् समुल्लास में अन्यत्र भी यही भाव प्रकट किये हैं।

"ऋषि ने इस प्रश्न के उत्तर में कि मुक्त जीव एक ठिकाने रहता है वा स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है यह उत्तर दिया कि जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है उसी में मुक्त जीव अव्याहत गति उसको कहीं रुकावट नहीं, विज्ञान आनन्द पूर्वक स्वतन्त्र विचरता है।"

उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मोक्ष धाम कोई विशेष धाम नहीं, जीव की सुखमय दशा का नाम स्वर्ग है।

दूसरा प्रश्न जो मुक्ति के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जाता है वह यह है कि मोक्ष में जीव का क्या स्वरूप होता है और उस प्रश्न के दो रूप हैं। मुक्ति दशा में जीव के साथ शरीर रहता है या नहीं, और यदि रहता है तो किस प्रकार का। दूसरा यह कि क्या मुक्ति में जीव ईश्वर में लय हो जाता है या उसकी सत्ता स्वतन्त्र रहती है। यह लय हो जाने वाली बात नवीन वेदान्तियों के मत के अनुसार प्रचलित हुई है। नवीन वेदान्ती केवल एक ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं और जीव को माया से आच्छादित ब्रह्म का स्वरूप मानते हैं। उनका मोक्ष से अभिप्राय यह है कि जीव से माया का आवरण छूट जाये तो जीव का शुद्ध पवित्र स्वरूप रह जावेगा और जीव का शुद्ध स्वरूप वही है जो ईश्वर का है। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् दो पृथक् सत्ताओं का मानना आवश्यक नहीं है। यह बात ठीक नहीं है यदि जीव की सत्ता ही न रही तो उसको मोक्ष प्राप्ति से क्या लाभ और फिर आनन्द कौन भोगेगा। दशा परिवर्तन से अभिप्राय यह है कि एक अनादि सत्ता है जो परिवर्तन होती रहती है। "It is only the permanent that does change." जीव स्वभाव से न बन्धन में है न मोक्ष में। बन्धन और मोक्ष उसको दोनों कर्मों के

निमित्त से प्राप्त होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जब जीव को ईश्वर का साक्षात् हो जाता है तो वह ईश्वर को अपने से भिन्न नहीं समझता और प्रेम में मग्न होकर यह कहने लगता है कि जो मैं हूँ सो तू है और जो तू है सो मैं हूँ। यह प्रेम मय अभिन्नता पृथक् सत्ता का निषेध नहीं करता। यह तो कवियों का हृदय के भावों का भावपूर्ण शब्दों में प्रकट करना है। दो मित्र जिनमें घनिष्ट मित्रता होती है, वह अपने सम्बन्ध में एक जान दो क़ालिब कहा करते हैं। उनका अभिप्राय मित्रता की घनिष्टता प्रकट करना है न यह कि उनका वजूद ही न रहा। यदि एक ही सत्ता हो तो फिर कौन किसका मित्र। मनुष्य के लिये सारे कर्म और ज्ञान का प्रयोजन केवल ईश्वर को साक्षात् करना है और जब न केवल एक जन्म बल्कि कई जन्म के निरन्तर परिश्रम से इसको साक्षात् करने में सफलता प्राप्त होजाती है तो उसके लिए अभिन्न वात्सल्य भाव रखना स्वाभाविक ही है। इसलिए लय होजाने वाली बात केवल कवियों और भक्तों की भावना ही समझनी चाहिये। मोक्ष की दशा में जीव के पास केवल कारण शरीर रहता है, न उसके पास स्थूल शरीर और न सूक्ष्म शरीर रहता है। ऋषि का मत उपरोक्त दोनों विषयों में सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में इस प्रकार प्रकट किया है। प्रश्न-मुक्ति में परमेश्वर में जीव मिल जाता है या पृथक् रहता है? उत्तर—पृथक रहता है। क्योंकि जो मिल जाये तो मुक्ति का सुख कौन भोगे और मुक्ति के और जितने साधन हैं वे सब निष्फल हो जावें। यह मुक्ति तो नहीं किन्तु जीव का प्रलय जानना चाहिये।

मोक्ष में जीव के साथ शरीर रहता है या नहीं इसके सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार लिखा है।

(सत्यार्थ प्रकाश शताब्दी संस्करण पृष्ठ २५७)

"मोक्ष में भौतिक शरीर व इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण करते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र-स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गंध के लिए घ्राण, संकल्प विकल्प करने के समय मन निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिये चित्त और अहंकार के अर्थ अहंकार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और संकल्प मात्र शरीर होता है जैसे शरीर के आधार रह कर इन्द्रियां व गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है। जीव की शक्ति मुख्य एक प्रकार की है परन्तु बल पराक्रम आकर्षण प्रेरणा, गति भीषण, विवेचन, क्रीड़ा, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम द्वेष, संयोग वियोग, संयोजक विभाजक श्रवण स्पर्शन दर्शन स्वादन, गन्ध ग्रहण तथा ज्ञान इन चौवीस, प्रकार के सामर्थ्य युक्त जीव हैं इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोगा करता है जो मुक्ति में जीव का लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगता और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं। वे महामूढ़ हैं क्यों कि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूट कर आनन्द स्वरूप सर्व व्यापक अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना।"

मोक्ष के विषय को समाप्त करने के पूर्व हम मोक्ष के स्वरूप और प्रत्येक साधन के विषय में महर्षि दयानन्द की सम्मति संक्षिप्त से और उद्धृत करना चाहते हैं।

स्वमन्तव्य और अमन्तव्य में मन्तव्य संख्या ११-१२ और १३ इस प्रकरण से सम्बन्धित हैं।

"११—'बन्ध सनिमित्तिक" अर्थात् अविद्या निमित्त से है। जो जो पाप कर्म ईश्वर अभिन्न उपासना अज्ञान आदि सब

दुःख फल करने वाले हैं इसीलिये यह बन्धन है कि जिसकी इच्छा नहीं भोगना पड़ता है।

१२—मुक्ति अर्थात् सर्व दुःखों से छूटकर बन्धन रहित सर्व व्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।

१३—मुक्ति के साधन-ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास धर्म अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्य विद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।

नवम् समुल्लास में मुक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है "मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः" जिसमें छूट जाता हो उसका नाम मुक्ति है।

मुक्ति से लौटना

इस प्रश्न के उत्तर में कि जीव मुक्ति को प्राप्त होकर जन्म मरण रूप दुःख में कभी आते हैं या नहीं यह उत्तर दिया है कि

"जो दुख का अत्यन्त विच्छेद होता है वही मुक्ति कहलाती है क्योंकि जो मिथ्या ज्ञान अविद्या लोभादि दोष विषय दुष्ट व्यसनों में प्रवृत्ति जन्म और दुख का उत्तरोत्तर के छूटने से मोक्ष होता है जो कि सदा बना रहता है इसका उत्तर यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि अत्यन्त शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे जैसे "अत्यन्तं दुखं अत्यन्त सुखं चास्य वर्त्तते" बहुत दुख और सुख इस मनुष्य को है इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत सुख व दुख है।

मुक्ति की अवधि

४३२०००० वर्ष की एक चतुर्युगी, २००० चतुर्युगियों का एक अहोरात्र ऐसे ३० अहोरात्री का एक महीना, ऐसे १२ महीनों

का एक वर्ष ऐसे सत वर्षों का परान्तकाल होता है इसको गणित की रीति से यथावत् समझ लीजिये। इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है। इसका प्रमाण माण्डूकोपनिषद् ३। खं २। मं ३

"ते ब्रह्मलोकेषुपरान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे" है। मुक्ति से लौटने की पुष्टि में ऋषि ने निम्न लिखित युक्ति भी दी हैं।

१—जीव अनन्त सुख नहीं भोग सकते जिनके साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता।

२—जो मुक्ति में से कोई भी जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् संसार के जीवन शेष हो जाने चाहिए।

३—ईश्वर नये जीव उत्पन्न नहीं करता यह मानने से जीव अनित्य हो जावेगा।

४—मुक्ति के स्थान में बहुत भीड़ भड़क्का हो जावेगा।

५—दुःख के अनुभव के बिना सुख नहीं हो सकता।

६—जो ईश्वर अन्त वाले कर्मों का अनन्त फल देवे तो उसका न्याय नष्ट हो जावे।

७—अल्पशक्ति वाले जीव पर अनन्त फल का भार नहीं रखा जा सकता।

८—यदि मुक्ति से न लौटना हो तो मुक्ति की तुलना जन्म-कारागार से दी जा सकती है जब कारागार से आना ही नहीं तो जन्म कारागार में और मुक्ति में इतना ही अन्तर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती और ब्रह्म में लय होना समुद्र डूब में मरना है।

मुक्ति के साधन

उपरोक्त मोक्ष विषय की संक्षिप्त विवेचना से यह विदित हो जाता है कि ऋषि दयानन्द ने जो मुक्ति का स्वरूप दर्शाया है वही युक्ति युक्त और वैदिक है अन्य मतों में जो मुक्ति सम्बन्धी भ्रम मूलक विचार हैं। उनका संक्षिप्त उल्लेख प्रसंगवश ऊपर आ चुका है। विस्तार से उनकी धर्म पुस्तकों में देखना चाहिए।

विश्व की पहेली

(भाग तीसरा)

प्रकृति

प्रकृति एक अनादि सत्ता है यह ईश्वर और जीव से भिन्न है इन तीनों में केवल एक अनादित्व गुण समान है। प्रकृति के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इस प्रश्न पर किस दृष्टिकोण से विचार किया जावे। यह जगत् या ब्रह्मांड हमारे सामने है। इसमें अनेक प्रकार की वस्तुएं हैं। आकाश में तारागण हैं और सूर्य और चन्द्रमा हैं पृथिवी पर वृक्ष और पशु पक्षी मनुष्य और अनेक प्रकार के जड़ पदार्थ हैं जैसे सोना चाँदी लोहा इत्यादि। इनके अतिरिक्त पाँच तत्व हैं अर्थात् अग्नि, जल, पृथिवी, वायु और आकाश। यदि हम प्रकृति के वास्तविक स्वरूप पर विचार करना चाहते हैं तो हमें इस उत्पन्न हुए हुए जगत् से जरा पीछे जाना पड़ेगा। इस जगत् में जितनी वस्तुएँ हैं उनमें परिवर्त्तन होता रहता है। वह उत्पन्न होती हैं और उनमें वृद्धि होती है और वह नाश को प्राप्त होते हैं। इस कुल परिवर्तन में कुछ चीज ऐसी हैं जो सदा एकसी रहती हैं और जिसमें परिवर्तन होते रहते हैं।

The word change implies permanance or in other words it is only the permanent that Can Change.

इसका अभिप्राय यह है कि परिवर्तन शब्द के कहने से ही एक स्थायी सत्ता सिद्ध होती है—क्योंकि जो स्थायी है उसी में परिवर्तन हो सकता है। इससे यह पता चला कि प्रकृति के स्वरूप

के पता लगाने के लिये उस स्थायी सत्ता को जानने की आवश्यकता है। जिसमें परिवर्त्तन होते रहते हैं। और इस दृष्टिकोण से ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में प्रकृति के लक्षण सांख्य सूत्र १।६१ के आधार पर निम्न प्रकार किया है—

सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः (सत्व) शुद्ध (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है उस का नाम प्रकृति है।" यहाँ ऋषि ने संघात शब्द का प्रयोग किया है जो द्रव्य और गुण दोनों शब्दों से भिन्न है संघात का अभिप्राय मिश्रण है इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह संघात जिस का नाम प्रकृति है उसके सत्व रज तम गुण हैं और इन्हीं गुणों के संयोग में अधिकता व न्यूनता हो जाने से भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। इस तमाम दुनियां में नाम और रूप दो सम्बद्ध विचार हैं जिनको अंग्रेजी में Noumena and phenomena कहते हैं जब कोई वस्तु रूप धारण करके अपना विशेष नाम प्राप्त करती है तो वह व्यक्त दशा को प्राप्त हुई कहलाती है और इसी अभिप्राय से एक विशेष नामधारी मनुष्य को व्यक्ति कहते हैं। इस व्यक्त दशा में प्रकृति का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। असली ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रकृति की उस अव्यक्त दशा पर चिन्तन करना होगा। ऊपर जो लक्षण दिया गया है वह अव्यक्त दशा का ही वर्णन है, इस अव्यक्त दशा के लक्षण के लिये हमें बहुत गहराई में जाना पड़ेगा और सत् रज तम् की साम्यावस्था कह कर उस अन्त की दशा का वर्णन किया जा सकता है। आज पश्चिमी जगत् में प्रकृति सम्बन्धी भारी खोज हो रही है और विज्ञान के आधार पर इस अव्यक्त दशा को समझने का उद्योग कर रहे हैं। पश्चिमी साइन्स में इस अव्यक्त दशा के सम्बन्ध में कौन-कौन

से बाद और किस आधार पर प्रचलित हुए, इसकी विवेचना आगे चल कर की जायगी। यहाँ प्राचीन शास्त्रों के आधार पर इस अव्यक्त दशा का जो वर्णन है वह दिया जाता है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में सृष्टि विद्या विषय पर लिखते हुए सात वेद मन्त्र ऋग्वेद अ० ८-१७-१७ में से दिये हैं:—

नासदासीन्नोसदासीत्तदानी नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नभः किमासीद् गहनं गभीरम्।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परं किञ्च नास। तम आसीत्तमसा गूढ़ मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्व मा इदं। तुच्छ्येना-भ्वापिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्। कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निर-विन्दन हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा। तिरश्चीनो विततो रश्मि रेषा मधः स्विदासी दुपरिस्विदासीत् रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्। को अद्धावेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनथा को वेद यत आबभूवः।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदिवान वेद।

यदि यहाँ इन सब मन्त्रों का अर्थ किया जायगा तो बहुत विस्तृत हो जायगा। केवल पहले दो मन्त्रों का जो भाषार्थ ऋषि ने ऋग्वे० भूमिका में दिया है वह यहाँ उद्धृत किया जाता है। उससे इन सब मन्त्रों का भाव समझ में आ सकता है—"जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब तक सर्वशक्तिमान परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की

सामग्री विराजमान थी उस समय शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। उस काल में सत् अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था। उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था।

जो यह वर्तमान जगत् है वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाँक सकता और उससे अधिक व अथाह भी नहीं हो सकता जैसे कुहरा का जल पृथ्वी को नहीं ढाँक सकता है। उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता और न कभी वह गहरा और उथला हो सकता है, इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है।

जब जगत् नहीं था तब मृत्यु भी नहीं थी, क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न हो के वर्तमान हो, पुनः उसका और शरीरादि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे सो शरीरादि पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे।

सत्यार्थ प्रकाश के आठवे समुल्लास में इस अवस्था का वर्णन इन शब्दों में किया है जब प्रलय होता है तब परमेश्वर और मुक्तजीवों को छोड़ के उसको कोई नहीं जानता क्योंकि सृष्टि की आदि अर्थात् प्रलय में जगत् प्रसिद्ध नहीं था और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय के आरम्भ से जब तक दूसरी बार सृष्टि न होगी तब तक भी जगत् का कारण सूक्ष्म होकर अप्रसिद्ध रहता है।

आसीदिदं तमो भूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहले प्रलय में अन्धकार से आवृत (आच्छादित) था और प्रलयारम्भ के पश्चात् भी वैसा ही होता है उस समय न किसी के जानने न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिन्हों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था और न होगा किन्तु वर्तमान में जाना जाता है और प्रसिद्ध चिन्हों से युक्त जानने योग्य होता और यथावत् उपलब्ध है।

इन वाक्यों से ज्ञात होता है कि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व जब प्रकृति कारण रूप होती है उस दशा में उसका वर्णन इससे अधिक नहीं हो सकता कि उसकी सत्ता है और वह जगत् की उत्पत्ति का उपादान कारण है। वर्णन या लक्षण करने का समय तो उत्पत्ति के समय से आरम्भ होता है।

पश्चिमी विज्ञान के आधार पर प्रकृति का स्वरूप

पश्चिमी विज्ञान के आधार पर संसार के पदार्थ दो भागों में विभाजित किये गये हैं एक मानसिक दूसरा प्राकृतिक। मन का विशेष गुण चेतनता है प्रकृति जड़ है। प्रकृति का लक्षण इस प्रकार किया गया है जो किसी स्थान विशेष में रह सके और गति को रोक सके—अंग्रेजी में इसको इस प्रकार कहेंगे—

Matter has the attribute of filling space and resisting motion through space, ie, it has the attributes of impenentrability and inertia and other attributes which arise out of these as Consequences.

अर्थात् मैटर या प्रकृति वह द्रव्य है जिसमें स्थान विशेष में परिपूर्ण होने और गति में बाधक होने के गुण हैं। इसमें ठोस पना है और जड़ता है—और इनसे उत्पन्न होने वाले और गुण हैं। इसके इन गुणों को दो विभागों में विभाजित किया जाता है।

अ—Primary qualities आरम्भिक विशेष गुण।

ये दो हैं—Extension and mobility Extension से अभिप्राय उस गुण से है जो एक ही चीज को एक स्थान में रहने देता है। और mobility से अभिप्राय यह है कि एक स्थान से दूसरे स्थान में गति करने की शक्ति है Extension को ही inertia कहते हैं। जब matter अनेक परमाणुओं से मिलकर बनता है तो उसमें कुछ नैमित्तिक अथवा Secondary गुण भी आ जाते हैं—रंग, शब्द, गन्ध, ताप, इत्यादि। ये परमाणुओं के भिन्न भिन्न प्रकार से मिलने से यह नैमित्तिक गुण आ जाते हैं। ये नैमित्तिक गुण आरम्भिक गुणों पर ही निर्भर है।

इसके अतिरिक्त हम यह भी कह सकते हैं कि प्रकृति के स्वाभाविक गुण अर्थात् inertia and motion एक ही स्वाभाविक गुण के दो रूप हैं जिसे energy या power के नाम से कह सकते हैं। जब हम उसको ठोसपने की दृष्टि से देखते हैं अर्थात् जब वह गतिशून्य होता है तो वह fixed energy (स्थिर शक्ति) है। और जब वह गति में होता है तो उसको free energy कहते हैं इसका परिणाम यह है कि उपरोक्त बात को दृष्टि में रखकर दो विभाग हो गये हैं जो गति और स्थिरता को एक दूसरे से भिन्न मानते हैं वह परमाणुवादी हैं। और जो एक ही शक्ति के दो रूप मानते हैं वह शक्तिवादी हैं। इस प्रकार दो विभाग हुए एक atomic theory वाले दूसरे Energetics.।

परमाणुवाद

इस वाद के अनुसार यह माना जाता है कि प्राकृतिक वस्तुएँ परमाणुओं से बनी हुई हैं और परमाणु प्रकृति का वह हिस्सा है जिसके आगे विभाग नहीं हो सकता। ये परमाणु कोई अपना विशेष आकार नहीं रखते और न इसमें कोई स्वाभाविक

गति है इनमें कोई छिद्र नहीं और ये बिलकुल ठोस हैं। इनमें कोई और विशेष गुण नहीं हैं। इनमें रंग रूप इत्यादि भिन्न भिन्न प्रकार से मिलने से उत्पन्न हो जाते हैं।

इनकी दृष्टि में यह सारा जगत् एक परमाणुओं का ढेर है। यह वाद अपूर्ण है इससे गति का समाधान नहीं होता और गति का समाधान करना इस संसार की पहेली को हल करने के लिये आवश्यक है। इसलिये परमाणुवाद का प्रबल खण्डन किया गया है।

परमाणु जगत् से भिन्न विचार करने में वे केवल कल्पना में ही आ सकते हैं। हमें जगत् में तो परमाणुओं से बनी हुई चीजें ही दीखती हैं। इसलिये यह वाद इस पहेली का पूरा समाधान नहीं कर सकता। इस वाद में यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि केवल परमाणुओं के ढेर से रंग रूप आदि नैमित्तिक गुण उत्पन्न हो जाते हैं यह कल्पना मात्र है Quantity से Quality अर्थात् केवल परिमाण से विशेष गुण नहीं आते।

Dynamic Theories the theories of the Energetics परमाणुवाद की उपर्युक्त त्रुटियों को देखकर और परमाणुओं में गति उत्पन्न होने की शक्ति को देखकर उनका समाधान करने के लिये उपर्युक्त वाद उत्पन्न हुए। इन वादों के प्रसिद्ध प्रचारक Frandy and Kelvin Ostwald इत्यादि हैं। इनका आशय यह है कि प्रकृति के स्वाभाविक गुण ठोस पना है और गति प्राप्त करने की शक्ति है और ये दोनों गुण एक ही शक्ति के रूप हैं। प्राकृतिक पदार्थ ठोस पने के कारण एक विशेष स्थान में अपनी सत्ता रखता है और जितनी जगह वह घेरे है उसमें दूसरे को नहीं आने देता और गति उत्पन्न होने की शक्ति के कारण वह एक जगह से दूसरी जगह परिवर्तित हो सकता है। पहले को Fixed energy और दूसरे को Free energy कहते हैं।

Fixed energy में विश्वास रखने वाले यह विचार रखते हैं कि संसार की शक्ति एक स्थिर साम्यावस्था में जमा है और वही प्रकृति का वास्तविक स्वरूप है और वह हमें जड़ता और ठोस पने के रूप में दीखती है। स्वतन्त्र Energy में विश्वास रखने वाले का यह विचार है कि इस संसार की शक्ति का एक भाग सदैव स्वतन्त्र रहता है और परमाणुओं पर बाहर से प्रभाव डालता है और इनको एक स्थान से दूसरे स्थान में ढकेलता रहता है। इनको हम moving force कह सकते हैं और इनका प्रत्यक्ष दो प्रकार से होता है। एक तो वास्तविक गति के रूप में जिसे Kinetic energy कहते हैं और एक गति प्राप्त करने की शक्ति के रूप में जिसे Potential energy कह सकते हैं।

विज्ञान वाले इन दोनों प्रकार के गुणों को नाशवान नहीं मानते उनका विश्वास Conservation of Mass and motion में है।

Conservation of Mass इसी का दूसरा नाम Indestructability of Matter है। इसका अभिप्राय यह है कि संसार में प्रकृति का जितना परिमाण है उसमें अधिकता और न्यूनता नहीं होती। किसी प्राकृतिक पदार्थ के रूप में परिवर्तन हो सकता है परन्तु प्रकृति के परिमाण में परिवर्तन नहीं होता—अगर हम। एक घड़े के अन्दर मोमबत्ती जलाएँगे तो वह जलने के पश्चात् अपने पहले के रूप में नहीं रहेगी। परन्तु दूसरे रूपों में प्रकट होगी कार्बन और हाईड्रोजन मोमबत्ती के विशेष अंग हैं जब वह जलती है तो उसका कार्बन रूपी हिस्सा वायु में जो आक्सीजन है उससे मिल जाता है और हाइड्रोजनरूपी हिस्सा वायु में आक्सीजन से मिलकर पानी बन जाता है परिमाण ज्यों का त्यों रहता है। इस वाद में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि हमारे पास कोई तराजू सब प्रकृति के तोलने के लिये नहीं है। इस लिये इस बात की पुष्टि विज्ञान द्वारा नहीं हो सकती।

Conservation of motion or Conservation of energy.

इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि इस संसार में गति का ह्रास नहीं होता उसमें न वृद्धि होती है न न्यूनता केवल गति का रूप बदल जाता है। इस प्रकार Motion Heat Light magnatism Electricity and Chemical affinity में परिवर्तन होता रहता है परन्तु Quantity या परिणाम सदैव एकसा रहता है।

इस वाद में सब से बड़ी त्रुटि यह है कि यह सिद्ध नहीं करता कि नैमित्तिक गुण शक्तियों के परिवर्तन में कैसे उत्पन्न हो जाते हैं और न इससे इस प्रश्न का समाधान होता है कि क्यों एक प्रकार की शक्ति दूसरे में परिवर्तित हो जाती है। इस वाद में भी वही त्रुटि है जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। अर्थात् संसार की Energy तोलने के लिये भी कोई सामान नहीं है। इस वाद में इस बात का भी समाधान नहीं है कि किस आधार पर गति एक वस्तु से दूसरी वस्तु में पहुँच जाती है इसे हम एक उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। आपने ब की तरफ़ एक चीज़ फेंकी और वह ब तक पहुच गई। प्रश्न यह है कि अ और ब के बीच का जो स्थान है उसमें गति किस आधार पर थी—गति की दशा में यदि Energy निराधार है तो कोई सत्ता नहीं हो सकती क्योंकि There canbe no motion without mass, इस लिये यह मानना पड़ेगा कि जिसे हम Conservation of Energy कहते हैं वह वास्तव है Correlation of Forces अर्थात् शक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध। संसार की सब शक्तियाँ किसी एक शक्ति के आश्रित हैं और उसी के सहारे गति एक स्थान से दूसरे स्थान तक होती है।

प्रकृति का यह स्वरूप जिसका वर्णन ऊपर किया गया है पश्चिमी विज्ञान के पुराने ढंग का है अब तो पश्चिमी विज्ञान ने बहुत खोज़ की है और वह खोज करके परमाणुवाद और गतिवाद के बहुत आगे निकल गये हैं। उनके खोज का परिणाम जैसा कि आगे के उदाहरण से पता चलेगा उस वर्णन से मिलता जुलता है जो कारण रूप प्रकृति का इस पुस्तक में ऊपर दिया गया है।

मिस्टर विलियम सैसिल डैम्पियर वीतम ने एक पुस्तक हिस्ट्री ऑफ साइंस एण्ड इट्स रिलेशन विथ फिलासफी एन्ड रिलीजन Hi:t.ry of science and its relaton with phylosophy and religion नामक लिखी है। उसके पृष्ठ ४७० पर मैटर के सम्बन्ध में इस प्रकार उन विचारों को प्रकट किया है जो इतिहास का वर्णन करते हैं। कि मैटर सम्बन्धी खोज में कैसे विकास हुआ है।

On the old idea of substance matter was resolved into molacules and Atoms, and then Atoms were analysed into protons and Electrons. These in turn have now been desolved into sources of radiation or into wave groups into a mere set of events which proceed outword from a centre. About what exists at the centre or about the medium which carries the waves (indeed wave equotions connote waves in a medium) we know nothing more over there seems a fundamental lim't to the acuracy of possible knowledege about these wave system which becomes Electrons. If from the equations, we calculate the exact position of an Electron its velocity becomes uncertain. If we calculate its exact velocity, we

cannot specify its position acuaratly. This uncertainty is connected with the relation between the size of the Fleclrons and the wave length If the light by which it might be observed. Wi h long wave lengths no exact definition canbe obtained when the wave length is decreased enough to give definition, the radiation nocks the Electrons out of its position. There seems here an ultimate impossibility of exact knowlege. a fundamental indeterminacy behind which we cannot go. It looks as trough the final limits of human knowledge were near.

इसका अभिप्राय यह है कि मैटर को द्रव्य मान कर उसको परमाणु और अणु में विभाजित समझा गया था और फिर परमाणुओं के भाग किये गये जिनको हम प्रोटोन और इलैक्ट्रोन के नाम से कह सकते हैं—अब इनके भी हिस्से किये गये हैं जिनको रेडिएशन का स्त्रोत या तरङ्ग रूप में कह सकते हैं। जिनके सम्बन्ध में केवल यह कहा जा सकता है कि ये आकस्मिक घटनाएं हैं जो किसी एक निश्चित केन्द्र से उत्पन्न होती हैं। उस केन्द्र के विषय में या उनके उत्पन्न होने के विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं है।

इसी विचार के दूसरे शब्दों में यों बन्द किया है—

Similar results have been reached by way of the Doctrine of Relativity. To the Philosopher of old, matter was in essence somerhing extended in space which persisted through time. But space and time are now relative to the observer and there is no one cosmic space or cosmic time. Instead of persistent lumps of matter or Elertrons in a three

dimensional space we have a series of "events" in a four dimensional space—time, events some of which seem to be connected so as to present an air of persistence as does a wave on the sea or a musical note. Forces at a distance especially gravitational forces and the need of "explaining" them have alike gone. There are only differencial relations which connect together neighbouring events in space—time. Physical reality is reduced to a set of Hamiltonian equations. The old materialisms dead, and even the electrons which for a time replaced particles of matter have become but disembodied ghosts, mere wave forms. They are not even waves in our familiar space; or in maxwells aether. But in a four dimensional space time, which our minds cannot picture in comprehensible terms.

इसका आशय यह है—

सापेक्षवाद के सिद्धान्त द्वारा भी ऐसे ही परिणाम निकले हैं। प्राचीन दार्शनिकों के लिये मैटर एक ऐसी वस्तु थी जो स्थान घेरती है और काल में बराबर स्थिर रहती है। परन्तु अब देश और काल द्रष्टा की बुद्धि की अपेक्षा करते हैं और नित्य देश और नित्य काल कुछ नहीं है। त्रिविध परिमाण वाले देश में रहने वाले स्थायी द्रव्य खण्डों या विद्युद्गुणों के स्थान में एक घटना शृंखला की प्राप्ति हुई है जो चतुर्विधि परिमाण वाले संयुक्तदेश काल में होता हैं। उन घटनाओं में से कुछ इस प्रकार से सम्बद्ध रहते हैं कि स्थायी रूप धारण करते हुए प्रतीत होते हैं जिस प्रकार समुद्र की तरङ्ग और सङ्गीत का स्वर कुछ काल तक स्थायी प्रतीत होता है। दूरस्थ शक्तियों और विशेष कर

आकर्षण शक्तियों की व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं रही। अब केवल विशेषक सम्बन्ध रह गये हैं जो देशकाल में निकटवर्ती घटनाओं को सम्बद्ध करते हैं। भौतिक सत्ता ने अब केवल हेमिल्टन के समीकरण समूह का रूप धारण कर लिया है। पुराना भौतिक वाद मर चुका और विद्युद्णु भी जिन्होंने कुछ काल तक द्रव्य खण्डों का स्थान ले लिया था अब केवल शरीर रहित पिशाच जैसे केवल तरङ्गाकार रह गये हैं। वे हमारे परिचित देश में होने वाले अथवा मैक्सवैल के ईथर (आकाश) में होने वाले तरंग भी नहीं है प्रत्युत एक चतुर्विधि परिमाण वाले संयुक्तदेश काल में होने वाले जिसका चित्र भी हमारे मस्तिष्क पूर्ण रीति से नहीं बना सकते।

प्रकृति के सूक्ष्म रूप पर विचार करने से यही पता चलता है कि उसकी सत्ता तो अनादि है परन्तु जब वह कारण दशा में रहता है तो उसका केवल अनुभव हो सकता है। उसका प्रत्यक्ष लक्ष और वर्णन तो उस समय से आरम्भ होगा जब वह कार्य रूप धारण करेगी।

सृष्टि उत्पत्ति

प्रकृति के कारण स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् कार्य रूप प्रकृति की विवेचना करना आवश्यक है। कार्य रूप प्रकृति की विवेचना तीन प्रकार से की जा सकती है।

१—यह जगत किस प्रकार उत्पन्न हुआ और कैसे अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुआ। इसको अंग्रेजी में Cosmogony कहते हैं।

२—दूसरा प्रश्न यह है यह जगत् काहे से बना हुआ है। क्या यह एक द्रव्य से बना है या बहुत से द्रव्यों से? और अगर एक से अधिक द्रव्यों से बना है तो उनका आपस में

सम्बन्ध क्या है ? वे कौन से मौलिक नियम हैं जिनसे इस जगत् में परिवर्तन होता है । इसको अंग्रेजी में Cosmology कहते हैं ।

३—तीसरा प्रश्न जो उत्पन्न होता है वह यह है कि वह वास्तविक द्रव्य कौनसा है और इस द्रव्य का असली स्वरूप क्या है, जिससे यह जगत् रचा गया है इसको अंग्रेजी में Ontology कहते हैं ।

Cosmogony अर्थात् सृष्टि की रचना—सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में सब से पहला प्रश्न उत्पन्न होता है वह यह है कि क्या इस जगत को किसी ने रचा है । या यह स्वयं विकसित हुआ है । यदि विकसित हुआ है तो उसके अन्दर कोई प्रयोजन है या नहीं ? और इस जगत् में जो विकास है वह किसी चेतन शक्ति के आधार पर है या केवल प्राकृतिक नियमों पर ? इस आधार पर सृष्टि रचना के दो मुख्य सिद्धान्त हो जाते हैं—एक को The theory of creation कहेंगे और दूसरे को Evolution.

Theory of Creation

इस सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि इस जगत् की रचना किसी एक विशेष समय में एक साथ हुई और एक साथ उत्पन्न होने के बाद यह एक सी दशा में रहेगा । इसके भी दो हिस्से हैं—१—Creation out of nothing—२—Creation out of pre—existing matter.

पहले के अनुसार अभाव से सृष्टि की रचना मानी जाती है इस सिद्धान्त को मानने वाले इस बात में विश्वास रखते हैं कि ईश्वर ने एक दम अपनी इच्छा से सारे जगत् को जिसमें यह तारागण और वृक्ष और पशु सब शामिल हैं उसी रूप में पैदा कर दिया जिस रूप में वह आज उपस्थित है इसको—

Ab·olute creation भी कहते हैं। ईश्वर ने केवल अपनी इच्छा से कहा कि दुनिया हो जाय और दुनिया हो गई। अब समय था कि जब ईश्वर के सिवाय कुछ नहीं था ईश्वर परिपूर्ण है और उसको संसार की आवश्यकता भी न थी उसने चाहा कि जगत् के रचे और अपने आनन्द को अन्य प्राणियों को प्रदान करे। और इसके इस विचार से जगत् की रचना होगई। इस सिद्धान्त में बहुत त्रुटियाँ हैं। १—इस वाद के अनुसार ईश्वर को कोई संसार की आवश्यकता न थी औरईश्वर की सत्ता के लिये इस संसार की आवश्यकता है—फिर उसने इस जगत् को क्यों बनाया और यदि उसने यह जगत् बनाया है और केवल अपनी इच्छा से तो उसने कोई दूसरा जगत् क्यों नहीं बनाया। वास्तविक बात यह है कि ईश्वर इस जगत् के बिना केवल एक विचारों का समूह है और बिना इस जगत् के उसकी सत्ता का अनुभव नहीं हो सकता। ईश्वर की शक्तियां अनन्त है और जगत् उनके प्रकट होने का स्थान है इसलिये ईश्वर और प्रकृति का साथ साथ अनादि होना आवश्यक है।

२—अभाव से कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता कारण का अभाव कार्य पर पड़ता है। अभाव से उत्पन्न जगत् अभाव ही रहेगा।

३—ईश्वर के गुण ऐसे हैं जिनका जीव और प्रकृति की सत्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये ईश्वर के अनादि होने के लिये जीव और प्रकृति का अनादि होना भी आवश्यक है।

Conditional Creation.

इसके अनुसार पूर्व से उपस्थिति प्रकृति से ईश्वर ने इसकी रचना की। ईश्वर और प्रकृति दोनों अनादि हैं। कारण रूप प्रकृति एक chaotic state में अर्थात् गड़बड़ दशा में थी ईश्वर

ने इस गड़बड़ दशा में से इस नियमित रूप को उत्पन्न कर दिया। इस वाद में केवल एक अधूरा पन है कि इसमें जीव के अनादि होने पर विचार नहीं किया गया है। अगर हम इस त्रुटि को दूर करदें तो यह वैदिक सिद्धान्त से मिल जावेगी। इसके साथ ही इस जगत् की रचना में अनादि ईश्वर और अनादि प्रकृति दोनों ही कारण हैं। एक उपादान कारण है और एक निमित्त और इस भेद को भी समझ लेना आवश्यक है।

Th:ory of evolution. (विकासवाद)

सृष्टि रचना की विवेचना विकासवाद की विवेचना के विना सम्पूर्ण नहीं हो सकती और यह आज कल बड़ा प्रचलित सिद्धान्त है। विकासवाद किसी हद तक Creation की Theory. के साथ-साथ है। सृष्टि रचना में विकास अवश्य हुआ है। कारण रूप से कार्यरूप में आने में एक दूसरे के बाद बहुत से परिवर्त्तन हुए और मनुष्य रचना से पूर्व वृक्ष और पशुओं की रचना हो चुकी थी। इस क्रम का वर्णन आगे चल कर करेंगे जहाँ प्राचीन वैदिक सिद्धान्त का वर्णन किया जायगा। विकासवाद और Creation में भेद जो मौलिक है वह यह कि विकासवाद वाले विकास के आधार केवल प्राकृतिक नियमों को मानते हैं किसी रचयिता को नहीं मानते। परन्तु जब इस संसार की पहेली केवल प्राकृतिक नियमों के आधार पर नहीं हल हो सकी—जड़ और चेतन भेद केवल विकासवाद के आधार पर सिद्ध नहीं होता इस जड़ जगत् में जो परिवर्त्तन हैं उसमें एक चेतनशक्ति का हाथ दृष्टिगोचर होता है और चेतन जगत् में भी एक प्रयोजन की सिद्धि है। विकासवाद वाले जातीय योनि को केवल परिस्थिति के आधार पर या जीवन संग्राम के आधार पर सिद्ध करते हैं। परन्तु इसमें भी वे असफल हुए। मनुष्य योनि के पश्चात् आज तक किसी

नवीन योनि का विकास नहीं हुआ। घोड़े और गधे के मेल से एक खच्चर की उत्पत्ति का परीक्षण हुआ। परन्तु उसका भी वंश आगे न चला। जाति का जो लक्षण न्याय में किया गया है। अर्थात्—समानं प्रसवात्मिका जातिः। न्या०। २। २। ७१॥

यह सिद्धान्त अत्यन्त मौलिक और सदा सत्य रहने वाला है—इसका अभिप्राय है कि जो व्यक्तिएं मिल कर अपने समान सन्तति को उत्पन्न कर सके उनके समूह को जाति कहते हैं और यह अटल सिद्धान्त है।

डारविन ने इस सिद्धान्त को नहीं समझा और बहुत बड़ी भूल की। इन सब कठिनाइयों के कारण विकासवाद के भी कई विभाग हो गए हैं, उनमें से तीन मुख्य हैं और उनके भी फिर अवान्तर भेद हैं।

१—Mechanical evolution.

अर्थात् केवल प्राकृतिक नियमों के आधार विकास।

२—Teleological.

Evoluti n प्रयोजन सिद्ध विकास।

३—Creative evolution.

रचनात्मक विकास।

अब नम्बर १—Mechanical evolution के दो भेद हैं।

(अ) Cosmological evolution.

अर्थात् सृष्टि रचना में विकास इसके मुख्य प्रचारक Laplace हुए हैं।

(ब) Biological evolution.

प्राणि जगत् में विकास Biology के अन्तर्गत Botany और Zoology दोनों आते हैं।

Botany से अभिप्राय वनस्पति शास्त्र से है और Zoology का सम्बन्ध पशु जगत् से है। इस प्रकार के विकाश के डारविन और Lamarck इत्यादि प्रचारक हैं।

Teleological evolution.

के भी दो हिस्से हैं—

(अ) Transcendental or external teleology.

अर्थात प्रयोजन सिद्धि एक ऐसी शक्ति के आधार पर होती है जो जगत् के बाहर रह कर उसमें लाता है। Paley इसके प्रमुख प्रचारक हैं।

(ब) Imminent or internal teleology.

अर्थात रचना में प्रयोजन सिद्धि एक ऐसी शक्ति के सहारे होती है जो इस जगत् में सर्वत्र रमा हुआ है। इस वाद के प्रमुख समर्थक Hegel हैं।

Creative evolution के प्रचारक Bergson महाशय हैं।

विकासवाद पर साधारण विचार

इन सब प्रकार के विकासवादों में कुछ सामान्य बातें हैं जिनका यहाँ संक्षिप्त से वर्णन करना आवश्यक है।

(अ) विकासवाद की पुष्टि में प्रमाण

तारागणों की विद्या से भूगर्भ विद्या से और प्राणी जगत् की विद्या से विकासवाद की पुष्टि होती है। हम सूर्य को चन्द्रमा को और अन्य तारागणों को देखते हैं। इनके सम्बन्ध में खोज करने से पता लगता है कि सूर्य और चन्द्रमा को वर्तमान रूप में आने के लिये करोड़ों वर्ष लगे होंगे और इस पृथिवी को भी इस ठण्डे और ठोस रूप में आने के लिये बहुत समय लगा और फिर इस पृथिवी पर पहाड़ों के बनने और सागरों के बहने में बहुत समय लगा। भूगर्भ विद्या से पता चलता है कि पृथिवी के

वर्तमान रूप से पहले इसकी बहुत सी तह थीं और धीरे-धीरे भर के इसमें मिट्टी और रेत मिलती गई और जहाँ पानी ही पानी था अब वहाँ ठोस जमीन होगई। उस ठोस जमीन को खोदने से बहुधा ऐसे पशु-पक्षी और कभी-कभी मनुष्यों की भी हड्डियां मिलती हैं जिनका अब वर्त्तमान जगत् में आस्तित्व नहीं है और ऊपर की तहों में इस प्रकार के प्राणियों के चिन्ह मिलते हैं जो वर्त्तमान जगत् से मिलते जुलते हैं और भूगर्भ विद्या और तारागणों की विद्या से की पुष्टि प्राणी जगत् सम्बन्धी विद्या से भी होती है—उपरोक्त प्रकार की साक्षियों से विकासवाद की सिद्धि एक अंशों में होता है परन्तु इससे विकासवाद वाले जो निष्कर्ष निकालते हैं वह ठीक नहीं है। इस सृष्टि रचना को बहुत समय बीत चुका है और यदि भूचाल इत्यादि के कारण या अन्य किसी दैवी घटना के कारण किसी विशेष समय में एक बहुत बड़ी संख्या में प्राणियों का नाश हुआ और उनके शरीर दब गये और अब खोदने पर निकलते हैं तो उससे केवल यह सिद्ध होता है कि जगत् की रचना को बहुत समय बीत चुका है। इस ब्रह्माण्ड में दैवी रचना अनन्त है और मनुष्य की बुद्धि अल्प है। उसको पुरानी-पुरानी जमीनें खोदने और दूर-दूर देशाटन करने से जीवित प्राणियों के चिन्ह और कभी विभिन्न मृत शरीर प्राणियों के चिन्ह मिल जाते हैं। जिसे वह अपनी अल्प बुद्धि से नवीन समझ ले परन्तु वह नवीन नहीं है उन सब में एक तारतम्य है जो सृष्टि रचना क समय से चला आता है। विकासवाद के सिद्धान्त की पुष्टि में एक बात यह भी है कि हम बहुधा देखते हैं इस जगत् में रचना का क्रम इस प्रकार है कि सादगी से पेचीदा और अभिन्नता से भिन्नता पैदा होती है और इस सम्बन्ध में जो खोज की गई है उससे विकासवाद के क्रम से विकासवाद के क्रम के तीन विभाग हैं।

१—Concentration or Integration. अर्थात् केन्द्रीकरण।

२—Differentiation—केंद्रीभूत होजाने के पश्चात भिन्न-भिन्न होना।

३—Determination—उनका अन्त आता है अर्थात् पृथक् पृथक् हो जाकर नाश को प्राप्त होते हैं।

ये तीनों हमारे प्राचीन सिद्धान्त के उन तीन अंगों से मिलते हैं जिन्हें हम उत्पत्ति वृद्धि और नाश कहते हैं और चाहे रचना सम्बन्धी सिद्धान्त ही या विकासवाद हो, यही क्रम सारी जगत् की रचना में और एक एक प्राणी की रचना में और एक-एक वस्तु की रचना में सदैव से रहा और सदैव रहेगा। उत्पत्ति में शक्तियाँ केन्द्रीयभूत होती हैं। वृद्धि में विभिन्नता आती है और नाश के समय वह केन्द्रीभूत शक्तियाँ छिन्न-भिन्न होजाती हैं और यह क्रम चलता रहता है।

विकासवाद के जो ऊपर विभाग किये गये हैं, उनमें सबसे पहिला मैकेनीकम ब्यूटी है, अर्थात् प्राकृतिक विकास। विज्ञान वाले इस वाद के बड़े पोषक हैं और इस बात पर बल देते हैं कि इस जगत् में जिसमें Matter life mind प्रकृति जीव और ज्ञान रखने वाली शक्ति का स्वयं आस्तिक परमाणुओं से विकाश होगया है, परमाणुओं में अपने आप गति आई और उस गति के आधार पर एक दूसरे से मिल गये। परन्तु इसके अन्दर बहुतसी भूलें हैं जिसको ज़रा सा विचार करने से समझ में आ सकती है। इस बात का आधार Chance या आकस्मिक घटनाओं पर है। भिन्न-भिन्न परमाणुओं के एक दम मिल जाने से कोई रूप धारण नहीं हो सकता। संसार में अनेक शब्द मौजूद हैं परन्तु उनके अपने आप मिल जाने से कोई पुस्तक नहीं बनी। कोष में शब्दों का संग्रह किसी चेतन शक्ति द्वारा ही

होता है और फिर उस संग्रह में से कोई चेतनशक्ति ही किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए शब्दों की शृंखला की एक स्थान पर मिला सकता है।

२—इस वाद में जड़ और चेतन के बीच की खाई नहीं भरी। प्राणी जगत् में बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए ये साधन जुटाए गये हैं और उसके सम्बन्ध में यह कभी नहीं कहा जा सकता कि प्राकृतिक परमाणुओं के इत्तफाकिया मिल जाने से उनकी यह अवस्था होगई। जड़ जगत् और चेतन जगत् में हमेशा एक संघर्ष रहता है और मनुष्य का उच्च मस्तिष्क केवल परमाणुओं के आकस्मिक समूह का परिणाम नहीं हो सकता।

३—विकास वाद उन्नति के क्रम को बताता है और इस क्रम में भी एक विशेष लक्ष्य की सिद्धि है और यह लक्ष्य की सिद्धि किसी चेतन ज्ञान वाली शक्ति के आधार पर ही हो सकती है। विकासवाद रचना सम्बन्धी सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है।

४—विकासवाद की प्राकृतिक Theory थ्यूरी (वाद) इस जगत् को एक मशीन का रूप देकर समझाना चाहती है। परन्तु कोई भी मशीन बिना किसी चेतन शक्ति के न बन सकती है और न काम में लाई जा सकती है।

५—विकासवाद का सिद्धान्त सारे ब्रह्माण्ड को एक साथ लक्ष्य में रख कर लागू नहीं समझा जा सकता। एक एक चीज को अलग अलग देखें तो उसके सम्बन्ध में विकास वाली बात समझ में आ जाती है। किसी भी वस्तु की उत्पत्ति से उसके विकास का आरम्भ होता है और उसकी वृद्धि ही उसका विकास है। उसका नाश, उसका रूप परिवर्तन और नवीन

विकास की तैयारी है, इस सारे परिवर्तन के क्रम में एक बड़ा सुन्दर विकास है परन्तु एक दैविक रचना के आधार पर एक चैतन्य ज्ञान वाली शक्ति के वशीभूत।

Teleological evolution.

अर्थात् प्रयोजन सिद्ध विकास में भी कुछ त्रुटि है यदि ईश्वर को निमित्त कारण मान लेते और जीव को भी अनादि मानते तो Palay or Hegal को वह कठिनाइयाँ न होती जो उनको अपने वाद की सिद्धि में हुईं। विस्तार भय से हम यहाँ इनकी लम्बी विवेचना नहीं कर सकते परन्तु इतना लिखना पर्याप्त है कि विज्ञान के जगत् में जितनी अधिक खोज होगी वह प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों की ओर झुकेंगे और एक चेतन अनादि सर्व व्यापक और ज्ञान मय ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करना अनिवार्य होगा केवल प्रकृति व जगत की खोज एक टटोल है उसका अन्तिम और वास्तविक निष्कर्ष प्राचीन वैदिक धर्म की शिक्षा के आधार पर ही हो हो सकता है। यह कितनी हँसी की बात है कि हम इस जगत् में ज्ञान मय रचना को देखें और या तो यह कहे कि इसका कोई रचयिता या निर्माता नहीं और या यह कहें कि एक दफे रचना करके कहीं अलग जा बैठा है और अब प्राकृतिक नियम स्वयं अपना काम कर रहे हैं यह सब अर्धज्ञान या अपूर्ण ज्ञान की बातें हैं और उनके विचारों का परिचय है जिन्होंने प्राचीनता को लक्ष्य में न रख कर केवल तर्क के आधार पर अपने विचारों की रचना करली है। अन्त में कुछ शब्द Creative Evolution अर्थात् रचनात्मक विकास के सम्बन्ध में भी लिखने आवश्यक हैं।

C ea ive Evolution

Burgson एक फ्रांस के मशहूर फ़िलासफ़र इसके प्रचारक हैं उनका कहना है कि जैसे केवल प्राकृतिक नियमों के मानने वाले जगत् के वर्तमान रूप को उसके भूतकाल से मिलाते

हैं वैसे ही प्रयोजन सिद्धि वाले भविष्य से मिला देते है और उनके अनुसार दोनों प्रकार से इस जगत् के विकास में स्वतन्त्रता नहीं रहती। उनका कहना है कि "Teleology is inverted mechanism अर्थात् प्रयोजन का सिद्धान्त प्राकृतिक वाद का उल्टा है उनके शब्दों में यह जगत् इस प्रकार उत्पन्न हुआ "The world is a continuous flow in flux. Cosmic evolution is a ceaseless advance towards absolutely new creations undetermined by the past or the future.

अर्थात् यह जगत् एक सदा बहने वाली दरिया के समान है इसमें सदैव नवीन रचनाएँ होती रहती है अर्थात् नवीन तरंगे उठती रहती हैं जिसका न भूत से कोई सम्बन्ध है न भविष्य से। यह वाद कुछ कम आक्षेपजनक नहीं हैं। यह तो केवल एक कवि की कल्पना है और तर्क के आधार पर एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। यह जगत् न भूल भुलैया हैं और न मदारी का खेल। इसमें तो एक शृंखला है और उस शृंखला में भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों बने हुए हैं। वास्तविक बात यह है कि केवल यह मानने से ही सृष्टि उत्पत्ति का प्रश्न हल हो सकता है कि हम ईश्वर जीव प्रकृति तीनों को अनादि मानें और ईश्वर को ज्ञानमय व चेतन जगत् का निमित्त कारण मान लें।

विकासवाद का एक और नवीन रूप है जिसको हम—Emergent Evolution नाम से कह सकते हैं अर्थात् इसके अनुसार हमेशा कोई नवीन चीज़ उत्पन्न होती रहती है यह repetitiue evolution के विरुद्ध है यह वाद केवल पुराने विकासवाद को नये रूप में प्रकट करना हैं और इसमें कोई विशेषता नहीं है। नवीनता के अभिप्राय से इसका दृष्टि कोण उन्नति की ओर है। परन्तु परिवर्तन का रूप यदि उन्नति की ओर भी

होगा तो भी तो किसी विशेष लक्ष्य की सिद्धि के लिये ही होगा और एक ज्ञानमय चेतन शक्ति का आधार मानना इसके लिये भी आवश्यक है संसार में परिवर्त्तन किसी घटना के आधार पर और किन्हीं कारणों के आधार पर होता हैं। जब हमें केवल परिणाम दीखता है और कारण का पता नहीं चलता तो हम अपने अज्ञान को छिपाने के लिये अपने अज्ञान का एक नया नाम रख लेते हैं और नवीन शब्दों में उसे प्रकट करते हैं। ईश्वर की दृष्टिकोण से न इस संसार में कोई Chance है न कोई Accident है न Emrgency है और न Catastrophy. और यह सब वृद्धि उत्पत्ति और नाश के क्रमबद्ध शृङ्खलाओं के रूप हैं और इनके अन्दर एक अटल नियम काम करता है ईश्वर ही रचयिता है और वही इसका निमित्त कारण और उसके बनाये नियमों के अनुसार यह सब कार्य होरहा है। मनुष्य अपने अल्प ज्ञान के कारण चित्र के एक अंग को देखता है और दूसरे अंगों को दृष्टि में न रख कर उसी अंग की विवेचना करके सारे चित्र की विवेचना पर उसको लागू करना चाहता है।

विकासवाद के परिणाम

विकासवाद के पोषक अब पश्चिमी जगत् में भी बहुत कम रह गये हैं। जिन्होंने अधिक खोज की है वह अब इसके समर्थक नहीं हैं। S r Alfred Russel Wallace का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है इस के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इन्होंने डारविन से भी पूर्व विकासवाद को निकाला था। परन्तु इन्होंने अपनी खोज को डारविन के बहुत दिनों के पश्चात् तक जारी रखा और विकास वाद का प्रबल खण्डन किया। अब जितने ऐसे विज्ञान वाले हैं जिन्होंने पदार्थ विज्ञान और धर्म का तुलनात्मक स्वाध्याय किया है वे सब इस

सिद्धान्त के विपक्ष में हैं। हम यहाँ उन सब के उद्धरण न देकर कुछ पुस्तकों और उनके रचयिताओं के नाम दिये देते हैं। पाठक उनको वहाँ पर देख सकते हैं—

1. Natural selection and natural theology by E. R. Conder.

2. Degeneration--Achapter in Darwinism and Parthenogeuesis by E. Ray Lankester. M. A. L-L. D.

3. Darwinism and politics—by David G Ritchiie M. A.

4. The Development of creation on the Earth by Thomas Lumisden strange.

5. Civilisation and progress John Bea ic Crozier.

6. The Bishops of Birmingham gilford lectures by earnest william barnes.

Cosmology

इस जगत को देखने से एकता और अनेकता दोनों दृष्टिगोचर होती हैं। इसमें बहुत से पदार्थ पृथक्-पृथक् देश और काल की दृष्टि से विखरे हुये दिखाई देते हैं और उन सब पदार्थों में एक तार तम्य भी दिखाई देता है प्रश्न यह है कि क्या एक ही द्रव्य है जिससे इस सारे जगत की रचना हुई है या एक से अधिक द्रव्य हैं। जगत् की पहेली पर विचार करने वाले इस प्रश्न पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचार करते हैं। कुछ वह सारे जगत् में एक ही द्रव्य का। आविष्कार मानते हैं और कुछ एक से अधिक का-इस प्रकार Cosmology के दो विभाग हुए एक Monism दूसरा Pluralism. Monisum अथवा एक्यवाद के तीन विभाग हैं।

I. abstract monism or pantheism.

II. conditional monism or conditional dualism.

III. Concrete monism or panentheism.

इसी प्रकार Pluralism के दो विभाग हैं।

I Materialistic pluralism or atomism भौतिक परमाणुवाद

II Spiritualistic Pluralism or Monadism.

Pluralism अथवा अनेकतावाद में दो मुख्य विचार हैं। बहुत से व्यक्ति मिलकर इस जगत् की रचना में साधक होते हैं यदि वह व्यक्ति केवल भौतिक होंगे हम उनको परमाणु कहेंगे और वही परमाणु सारे जगत् की रचना के आरम्भिक साधन माने जाएँगे। यदि हम उनको जीव आत्मा या चेतन शक्ति मानेंगे तो वही जीव सारे जगत् की रचना का कारण होंगे। और इस प्रकार अनेकतावाद के दो विभाग होगये एक भौतिक और दूसरा अभौतिक।

एकतावाद में केवल एक द्रव्य को मानकर सारे जगत् की रचना को सिद्ध किया गया है। और जिस प्रकार कि उस द्रव्य के गुण माने जाएँगे वैसे ही आधार पर वह वाद सिद्ध किया जाता है।

ईश्वर सम्बन्धी निबन्ध के इन विचारों पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस संसार की पहेली ईश्वर जीव प्रकृति तीनों को अनादि मानकर ही हल हो सकती है यदि ईश्वर को केवल मान कर जगत् का उपादान कारण उसको मानेंगे तो ईश्वर के से गुण इस कार्यरूप जगत् में होने चाहिये। यदि खाली प्रकृति को मानेंगे तो चेतनता का और ज्ञानमय जगत् का कोई उत्तर नहीं मिलता और पाप और पुण्य की पहेली भी उलझन में पड़

जाती है यदि केवल जीव को मानेंगे तो भी काम नहीं चलेगा यदि इनमें से किसी दो को मानेंगे तो भी तर्क के अनुसार त्रुटि रह जावेगी। वैदिक त्रैतवाद के प्रचार न होने से और भारत के प्राचीन शास्त्रों का प्रचार न रहने से पश्चिमी जगत् के तर्कवेत्ता भ्रम में पड़ गये और अनेक भ्रममूलकवाद प्रचलित होगये। उनमें से एक भी वाद ऐसा नहीं जो सर्वमान्य हो। एक वाद का दूसरे वाद वाले प्रबल रूप से खण्डन करते हैं और सिद्धान्तके रूप में कोई भी प्रचलित नहीं हुआ है और न अब तक हो सका है। यहाँ यह कहने में में भी संकोच नहीं होना चाहिए कि वर्त्तमान फिलॉसफी में त्रैतवाद की गणना अभी वादों में भी नहीं है और इसका कारण हमारे प्रचार की कमी है—इसमें कोई सिद्धान्त की त्रुटि नहीं जो ईश्वर जीव प्रकृति तीनों को नहीं मानते वे विचार करते-करते ऐसी उलझन में पड़ जाते हैं कि उनको स्वयं कोई न कोई आपत्ति अपनी बातों में दिखाई देती है।

जब हम एकता और अनेकता के भाव से इस प्रचलित जगत् को देखते हैं अर्थात् इस कार्यरूप जगत् को देखते हैं तो उस विज्ञान का नाम Cosmology है जब इसी दृष्टिकोण से कार्य-रूप प्रकृति पर विचार करेंगे तो उसका नाम Ontology होगा।

Ontology में इस दुनियाँ के Essence पर विचार किया गया है अर्थात् यह जगत् किस तत्व से बना। यहाँ भी वही प्रश्न आता है। वह तत्व एक है और यदि एक है तो जड़ है या चैतन्य। यदि दो हैं तो कौन-कौन? और यदि दो से अधिक हैं तो किस प्रकार। परिणाम यह है कि घूम फिर कर हमें जगत् के तीनों प्रकार के कारणों पर विचार करने से हमें प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के विचार समझ में आ सकते हैं हमने

सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में पश्चिमी विचार नीचे संक्षिप्त से ऊपर दिये हैं। प्राचीन वैदिक विचार नीचे दिये जाते हैं—

सृष्टि उत्पत्ति का प्राचीन रूप

ऋषि दयानन्द के ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में सृष्टि उत्पत्ति पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया है और सत्यार्थप्रकाश में कुछ संक्षिप्त से। ऋषि दयानन्द ने अपने मन्तव्य और अमन्तव्य में जो सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में मन्तव्य दिये हैं वह यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

६—अनादि पदार्थ तीन हैं-ईश्वर २-जीव ३-प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव नित्य हैं।

७—प्रवाह से अनादि जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म, उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उनमें अनादि है और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी। इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूँ।

८—सृष्टि उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल होकर नाना रूप बनाना।

सृष्टि का प्रयोजन यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि निमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये हैं? उसने कहा देखने के लिये। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है। और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी।

१०—सृष्टि सकर्तृक है इसका वक्ता पूर्वोक्त ईश्वर है क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का कर्त्ता अवश्य है।

सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास में सृष्टि का वर्णन करते हुए ऋषि दयानन्द ने बतलाया है—जब सृष्टि का समय आता है है तब परमात्मा उन परम सूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृति रूप धारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्व और जो उस से कुछ स्थूल होता है उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न-भिन्न पाँच सूक्ष्म श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ वाक, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्याहरवाँ मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है और उन पंचतन्मात्राओं से अनेक स्थूल अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पाँच स्थूल भूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं।

प्रकृति का लक्षण करते हुए ऋषि दयानन्द ने सांख्यसूत्र १–६१ के आधार पर इस प्रकार लिखा है—"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पंचतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः।"

सत्व (शुद्ध) रज (मध्य) तम (जाड्य) अर्थात् गड़ना तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है उसका नाम प्रकृति है उससे महत्तत्व (बुद्धि) उससे अहंकार उससे पाँच तन्मात्रा (सूक्ष्मभूत) और दश इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन पंचतन्मात्राओं से पृथिवी आदि पाँच भूत ये चौबीस और पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है, इनमें प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्व अहंकार तथा पाँच सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य और इन्द्रियाँ मन और स्थूल भूतों का कारण हैं। पुरुष न किसी की प्रकृति उपादान कारण और न किसी का कार्य है।"

ऋषि ने जगत् के तीन कारण बताए हैं एक निमित दूसरा उपादान और तीसरा साधारण तीनों प्रकार के कारणों का लक्षण किस प्रकार से किया है—

निमित्त कारण—उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने और न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे।

उपादान कारण—उसे कहते हैं जिसके बिना कुछ न बने वही अवस्था रूप हो के बने और विगड़े।

साधारण कारण—उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो।

निमित्त कारण भी दो प्रकार के हैं—

१—एक सब सृष्टि को कारण से बनाने धारने और प्रलय करने तथा सब की व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित कारण परमात्मा।

२—दूसरा परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेक विधा कार्यों का बनाने वाला साधारण निमित्त कारण जीव।

प्रकृति वा परमाणु उपादान कारण है इसी को सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। यह जड़ होने से आप से न बनती और न विगड़ सकती है किसी दूसरे के बनाने से बनती और विगाड़ने से विगड़ती है।

ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति में उपादान कारण नहीं है क्योंकि यदि वह उपादान कारण होता तो वह परिणामी अवस्थान्तर युक्त विकारी हो जाता और उपादान कारण के गुण कर्म स्वभाव कार्य में भी आते हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप जगत् कार्य रूप से असत् जड़ और आनन्द रहित, ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न

हुआ है ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है। ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है। जो ब्रह्म से पृथिवी आदि कार्य उत्पन्न होवें तो पृथ्वी आदि कार्य के जड़ आदि गुण ब्रह्म में भी होवें अर्थात् जैसे पृथिवी आदि जड़ हैं वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाय और जैसा परमेश्वर चेतन है वैसा पृथिवी आदि कार्य भी चेतन होना चाहिये। मूल कारण जो प्रकृति है उसका कोई कारण नहीं होता।

ऋषि ने जगत् उत्पत्ति के सम्बन्ध में ईश्वर जीव प्रकृति तीनों अनादि पदार्थों की आवश्यकता एक अच्छे उदाहरण से प्रकट की है। उस उदाहरण को हम यहाँ उद्धृत करते हैं, 'किसी कार्य के आरम्भ समय के पूर्व तीनों कारण अवश्य होते हैं जैसे कपड़े बनाने के पूर्व तन्तुवाय, रुई का सूत और नलिका आदि पूर्व वर्तमान होने से वस्त्र बनता है वैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर प्रकृति काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है। यदि इनमें से एक भी न हो तो जगत् भी न हो।

ऋग्वेद अष्टक ८ अ० ८ वर्ग ४८ में सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी प्रकरण बड़े उत्तम शब्दों में दिया हुआ है। हम उसको यहाँ अर्थ सहित उद्धृत करते हैं—ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवंच पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथोस्वः।

ऋषि के शब्दों में इनका भावार्थ इस प्रकार है।

'सब जगत् का धारण और पोषण करने वाला और सब का वश करने वाला परमेश्वर जैसा कि उसके सर्वज्ञ विज्ञान में जगत् के रचने का ज्ञान था और जिस पूर्व कल्प की सृष्टि में

जगत् की रचना थी और जैसे जीवों के पुण्य पाप थे, उनके अनुसार से ईश्वर ने मनुष्य आदि प्राणियों के देह बनाये हैं, जैसे पूर्व कल्प में सूर्य चन्द्रलोक रचे थे वैसे ही इस कल्प में भी रचे हैं जैसा पूर्व सृष्टि में सूर्य आदि लोकों का प्रकाश रचा था वैसा ही इस कल्प में भी रचा है तथा पृथिवी जैसी प्रत्यक्ष दीखता है जैसा पृथिवी और सूर्यलोक के बीच में पोलापन है जितने आकाश के बीच में लोक हैं उनको ईश्वर ने रचा है। जैसे अनादि काल से लोक लोकान्तर को जगदीश्वर बनाया करता है वैसे ही अब भी बनाये हैं और आगे भी बनावेगा क्योंकि ईश्वर का ज्ञान विपरीत कभी नहीं होता। किन्तु पूर्ण और अनन्त होने से सर्वदा एक रस ही रहता है। इसी कारण से यथा पूर्व मकल्पयत् इस पद का ग्रहण किया है।

(विश्वस्यमिषतः) उसी ईश्वर के सहज स्वभाव से जगत् के रात्रि दिवस घटिका पल और क्षण आदि को जैसे पूर्व थे वैसे ही रचे हैं। इसमें कोई ऐसी शंका करे कि ईश्वर ने किस वस्तु से इस संसार को रचा है। इसका उत्तर यह है—ईश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् को रचा है। जो कि ईश्वर के प्रकाश से जगत् का कारण प्रकाशित और सब जगत् के बनाने की सामग्री ईश्वर के आधीन है।"

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट विदित होता है कि सृष्टि की रचना इससे पूर्व कल्पों में भी होती रही है और ईश्वर इसको अपनी शक्ति से सहज में बना देता है और ऋत और सत्य दोनों, प्रलयावस्था में भी वर्तमान रहते हैं। ऋत से अभिप्राय सब विद्या का खजाना वेद शास्त्र से है और सत्य से कारण रूप प्रकृति। और इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस सृष्टि में ज्ञान की उत्पत्ति भी ईश्वर से हुई है और वही इस जगत में सारी उन्नति का एक मुख्य कारण है।

विकासवाद वालों ने आप भी इस वैज्ञानिक खोज के आधार पर इस बात को सिद्ध करने का उद्योग किया है कि प्राकृतिक नियमों के आधार पर पशु-पक्षियों में विकास अथवा जाति परिवर्तन होता रहता है, इसके विपरीत वैदिक सिद्धान्त यह है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने सब प्रकार की योनियाँ पूर्व कल्प के कर्मों के अनुसार उत्पन्न करने की व्यवस्था की। यजुर्वेद के पुरुष सूक्त के निम्न मन्त्र से इस पक्ष की पुष्टि होती है—

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥

"उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं जिनके मुख में दोनों ओर दाँत होते हैं उन पशुओं को उभयादत कहते हैं। वे ऊँट, गधा आदि उसी से उत्पन्न हुये हैं, उसी से गो जाति अर्थात् गाय पृथिवी किरण और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं। इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं।

कुछ जटिल प्रश्न

सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ ऐसे जटिल प्रश्न है जिन पर ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त को समझने के लिये कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

१—पहला प्रश्न यह है कि क्या सृष्टि प्रलय से अनादि है या चक्र से अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व सारे ब्रह्माण्ड में प्रलय होता है या नहीं या ऐसा होता है कि प्रलय और उत्पत्ति साथ साथ चलते हैं?

इस प्रश्न पर जैनियों आदि से बड़ा विवाद रहता है क्योंकि उनका पक्ष यह है कि यह सृष्टि सदैव से इसी रूप में उपस्थित है, जैसे और चीजें बनती और बिगड़ती रहती हैं वैसी ही दशा इस ब्रह्माण्ड की है। इसलिये इस सृष्टि का कर्ता किसी को मानने की आवश्यकता नहीं इसलिये प्रलय के प्रश्न पर विचार करना अति आवश्यक है। ऋषि का सिद्धान्त हम ऊपर दर्शा आये हैं। विज्ञान की दृष्टि से इस पर प्रकाश डालेंगे।

२—सृष्टि को उत्पन्न हुए कितना समय हुआ, इस विषय पर भी बहुत मत भेद है। ऋषि दयानन्द के मत के अनुसार आर्य वत्सर अथवा सृष्टि संवत् इस समय १९७२९४९०३७ है। हमें यह देखना है कि पश्चिमी विज्ञान इसकी पुष्टि कहाँ तक करता है।

३—ऋषि ने सृष्टि उत्पत्ति के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि का प्रकार बताया है इस सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है?

४—न केवल अमैथुनी सृष्टि बल्कि युवावस्था में सृष्टि उत्पत्ति अर्थात् मनुष्यों का युवा पैदा होना माना है। इस पर भी विचार करना है।

५ ऋषि ने लोक लोकान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में अनेक लोक और द्वीप माने हैं कुछ विवेचना इसकी होनी चाहिये।

प्रलय

प्रलय से अभिप्राय उस अवस्था से है जब यह सारी कार्य रूप में परिवर्त्तित होजावे—इस दुनियाँ में विश्राम का नियम हर एक प्राणी के लिये है। हमारी जो शक्तियाँ काम करने से कम होजाती हैं वह आराम करने से पुनः हमारे अन्दर आजाती हैं चेतन जगत् में तो यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। परन्तु जड़

जगत् के लिये जरा हमें गहराई में जाना होगा। परमाणुओं में संयोग और वियोग की शक्ति परिमित है। यदि एक कुम्हार थोड़ी सी मिट्टी ले ले और वह बार-बार उससे कोई बर्तन बनावे और फिर उस बर्तन को तोड़दे तो फिर एक दशा ऐसी आजायगी जब उस मिट्टी में बर्तन बनाने की शक्ति नहीं रहेगी उसको कुछ देर रख कर उसमें पुनः संयोग की शक्ति उत्पन्न करानी होगी। खेतों में यह बात देखते हैं। कुछ दिन खेत संचार के लिये खाली रक्खे जाते हैं इससे यह पता चलता है कि कारण रूप प्रकृति के लिये परमाणुओं में जो संयोग की शक्ति है जब उस शक्ति का ह्रास होगा तो फिर प्रलय अवस्था में उनमें फिर शक्ति भरनी होगी। हिन्दुओं में एक प्रसिद्ध कहावत है कि यह पृथिवी शेष पर ठहरी हुई है। शेष सर्पों को भी कहते हैं परन्तु यहाँ शेष से अभिप्राय जीवों के शेष कर्मों से है और कारण रूप प्रकृति से और इसीलिये कहते हैं कि प्रलय अवस्था में परमात्मा शेषशय्या पर शयन करते हैं। इसलिये यह मानना ठीक नहीं कि कभी प्रलय न होवे और यह मानना ठीक है कि इस ब्रह्माण्ड में कहीं प्रलय और कहीं उत्पत्ति साथ-साथ चलेगी। विज्ञान की दृष्टि से एक समय में सारे ब्रह्माण्ड में प्रलय होना अनिवार्य है। विज्ञान की दृष्टि से इस प्रश्न पर Sir james jeans M. A. Dsc; LL. D. F. R. S. ने बड़ी उत्तम रीति से विचार किया है, उन्होंने एक पुस्तक लिखी है जिस का नाम The universe around us है उसके chapter vi में इस प्रलय के विषय पर विचार किया गया है। chapter का शीर्षक Beginnings and endings है अर्थात् "जगत् का आरम्भ और अन्त।" उन्होंने लिखा है—"इस प्राकृतिक जगत् के ठोस पदार्थ धीरे-धीरे घुलकर अदृश्य तरंगों में विभाजित होरहे हैं। सूरज की तोल ३६०००० मिलियन टन एक दिन में कम होजाती है, यह कमी इस कारण से होती है कि जो

२४ घण्टे प्रकाश बाहर निकलता रहता है, और सृष्टि के अन्त तक बराबर निकलता रहेगा—यही परिवर्त्तन तमाम तारागणों में होता रहता है और किसी दर्जे तक पृथिवी में भी जहाँ Uranium ऐसे मिश्रित परमाणु हमेशा बदल कर शीशे के सीधे परमाणुओं के रूप में परिणित होते रहते हैं या हीलियम के रूप में और इस परिवर्त्तन के मार्ग में Radiation बराबर जारी रहता है। इस पृथिवी का एक दिन में ६० पाउण्ड वज़न घट जाता है और वह सृष्टि के चक्र से अनादि मानते हैं, उनके शब्द इस प्रकार हैं—

It is Natural to ask weather the study of the universe as a whole reveals those processes as part only of a closed cycle so that the wastage which we see in progress in the sun in the stars and on the earth is made good elsewhere....is the physical unverse a similar cyclic system or ought it rather to be compared to a stream which having no source of replenishment must cease flowing after it has spent itself.

इसका अभिप्राय यह है कि यह जगत् उस दर्या के समान है कि जब इसमें पानी आना बन्द हो जायगा तो वह सूख जायगा और इस सूख जाने या प्रलय होने का वैज्ञानिक हेतु उस नियम के आधार पर दिया है जिसको विज्ञान में "The second law of thermodynamics, कहते हैं। पहला नियम Thermo dynamics का यह है जिसको The principal of Conservation of engrgy कहते हैं:—जिसका अभिप्राय यह है कि यह प्रकृति नाशवान नहीं है इसके रूपों में परिवर्तन हो सकता है परन्तु इसका सम्पूर्ण परिमाण इन रूप परिवर्तनों के कारण घटता बढ़ता नहीं और इस ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण Energy अर्थात् शक्ति सदैव एक सी रहती है। इस संसार में

जितना जीवन दिखाई देता है उसका मूल कारण एक Energy है और उस Energy के सम्बन्ध में यह अनुमान किया जा सकता हैं कि वह सदैव एक सी रहेगी परन्तु The Second law of thermodynamics ऐसे अनुमान में बाधक है। यह नियम availability of enery का प्रश्न उपस्थित करता है अर्थात् क्या सदैव शक्ति एक ही परिमाण में प्राप्त हो सकती है इस शक्ति के सम्बन्ध में नीचे और ऊपर जाने का प्रश्न हमारे सामने है। चीज का बनना ऊपर जाना है और बिगड़ना नीचे जाना यह एक प्रसिद्ध बात है कि नीचे आने में अर्थात् पहाड़ से नीचे उतरने में शक्ति कम व्यय होती है परन्तु ऊपर चढ़ने में बहुत ज्यादा और इसलिये एक चीज के एक बार रूप परिवर्तन करने में बिगड़ने से बनाने में अधिक शक्ति व्यय हो जाती। उन्होंने प्रकाश और ताप का उदाहरण दिया है, Light and heat दोनों Forms of energy हैं अर्थात् शक्ति के रूप और प्रकाश के एक मिलियन परमाणु बड़े सहज में ताप रूप परमाणुमें बदल सकते हैं परन्तु इसका उलटा नहीं हो सकता—वहां ताप केपरमाणु फिर उतने ही प्रकाश के परमाणु नहीं बन सकते और इस उदाहरण से हमको पता लगता है कि हमें energy का खयाल न केवल परिमाण के आधार पर करना चाहिये बल्कि उसकी Quality विशेषता को भी ध्यान में रखना चाहिये पहले नियम के अनुसार उसकी Quantity सदैव एकसी रहती है परन्तु उसका गुण बदलता रहता है। energy के भिन्न भिन्न गुणों में परिवर्तन के केन्द्र लगे हुए हैं और उन केन्द्रों में होकर निकलने में शक्ति का ह्रास होता रहता है। इस जगत् के इस रूप में चलने का कारण केवल शक्ति नहीं परन्तु शक्ति का रूप धारण करना है। उन्होंने एक बड़ी अच्छी उपमा दी है

'To argue that the total energy of the universe cannot Diminish and therefore the universe must go on for ever is like arguing that as clock weight cannot diminish the clock hand must go round and round for ever.

अर्थात् जैसे घड़ी का वज़न कम न होते हुए भी उसमें चलने की शक्ति न रहने से बन्द हो जाती है यही दशा इस ब्रह्माण्ड की की है। प्रलय को कितने स्पष्ट शब्दों में मि० जीन Mr Jeans महाशय ने स्वीकार किया है—

'Energy cannot run down till for ever and the clock weight it must touch bottom at last and so the universe cannot go on for ever, sooner or later the time must come when its last leg of energy has reached the lowest rung on the ladder of descending availability and at this moment the active life of the universe must cease. The energy is still there but it has lost all capacity for change. It is as little able to work the universe as the water in a flat pond is not able to turn a water wheel we are left with a dead although possibly a warm universe a heat death.

अर्थात् इस जगत् की तमाम शक्ति का एक समय ऐसा आयगा कि यह बिलकुल प्रलय लय दशा को प्राप्त हो जायगी औरइसके पश्चात् चक्र से अनादि मानने का प्रश्न नहीं रहता। क्योंकि सारा ब्रह्माण्ड एक समय में लय को प्राप्त होगा। अन्तिम दशा के लिये वह लिखते हैं— The final state of the universe will then be attained when every atoms which is capable of any annihilation has been

annihilated and its energy transformed into energy wandering for ever round the space. And when all the weight of any and whatever which is capable of being transformed into radiation has been so transformed.

अर्थात् जितने परमाणु हैं सब में संयोग की शक्ति का पूरा पूरा ह्रास हो जावेगा उन्होंने लिखा है, कि direct observation rather frowns upon the steady viewed of the stars.

सृष्टि उत्पत्ति के विषय में भी जीन महाशय की सम्मति बहुत स्पष्ट है—

"The most consistent account of the origin of the galactic system of star is provided by the supposition that the whole system originated out of the break up of a single huge nebula some five to ten million years ago.

अर्थात् इस तारागणों की उत्पत्ति का सब से पूर्ण विवरण इस आधार पर हो सकता है कि प्रकाश के एक बहुत बड़े गोले में से टूट टूटकर यह तारागण एक अरब वर्ष से पूर्व बने।

इन विचारों से हिरण्य गर्भ सम्बन्धी विचार जो वेदों में पाए जाते हैं उनकी पुष्टि होती है और ब्रह्माण्ड शब्द से भी यही अभिप्राय निकलता है।

ईश्वर सृष्टि रचता है

Jeans ऐसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक की सम्मति ईश्वर के सृष्टि रचयिता होने के सम्बन्ध में बहुत प्रामाणिक समझी जा सकती है। उनका कहना है If we want a concrete picture of such a creation we may think of the figure of God agitating the aether. Travelling so far back in time as we can, brings us not to the creation of the picture

but to its edge. The creator of the picture lies as much outside the picture as the artist out: side his Canvass.

जैसे किसी चित्र को हम अन्त तक देख कर यह कह सकते हैं कि हमने उस चित्र को पूरा देख लिया परन्तु चित्रकार तो अभी उससे परे है। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड को आरम्भ से अन्त तक समझ लेने पर भी ईश्वर को इसका रचयिता मानना ही पड़ेगा।

कितने दुःख की बात है कि नाम मात्र के विज्ञान जानने वाले तो नास्तिक होने का गर्व करें और विज्ञान के धुरन्धर विद्वान आस्तिकता के प्रचारक हों।

प्रलय के सम्बन्ध में एक पुस्तक में William Ralph Ingelo The God and the astronomers इस प्रकार लिखा है।

Modern astronomer with a few exceptions see no escape from the Conclusion that the universe is slo..ly running down towards dissolution'!

जिसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान ज्योतिषशास्त्र के जानने वाले एक आध को छोड़कर सब इस बात को मानने पर विवश हैं कि ब्रह्माण्ड धीरे धीरे प्रलय की ओर जा रहा है। उन्होंने उसी पुस्तक के पृष्ठ १ और दो पर यह भी लिखा है कि प्रलय सम्बन्धी विचार कोई नये विचार नहीं है जो अब 'The second law of thermodynamics कहलाता है इसको ही "Th principal of carvot कहते हैं और The law of entropy कहते हैं। इसके सम्बन्ध में Carvot ने १८२५ में लिखा और Clodious ने १८५० में। परन्तु इसका विशेष प्रकार Jeans और Edlington की पुस्तकों से हुआ है। पृष्ठ १० पर सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है

'If the universe is running down like a clock the clock must have been wound up at the date which we could name if we knew it. The world if it is to have an end in time must have a beginning in time.

अर्थात् यदि यह ब्रह्माण्ड एक घड़ी की तरह चल रहा है तो इस घड़ी में किसी ऐसे वक्त में चाभी दी गई होगी जिसको यदि हम जानें तो निश्चित कर सकते हैं यदि इस दुनियाँ का अन्त होना है तो इसका कभी आरम्भ भी होगा।

पुराने अहदनामे के निम्नलिखित शब्दों से भी यही भाव निकलता है। Thou lord in the beginning has laid the foundation of the earth and the weavers are the works of thine hands. They shall perish but thou remainest and they all shall wax old as doth a garment and as a vesture shall thou of old them up and they shall be changed, But thou cut the same and thy years shall not fail.

जिसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर ने सृष्टि को रचा और यह रचना समाप्त हो जायगी परन्तु ईश्वर सदैव रहेगा। यह उद्धरण महाशय Inge की उपरोक्त पुस्तक के पृष्ठ १८ से लिया गया है

William Cecil Dampier Dampier wetham की रची पुस्तक जिसका नाम A History of Science है उसमेंभी प्रलय के सम्बन्ध में पृष्ठ ४८२ पर इस प्रकार लिखा है।

"And what of the picture of the universe? Calvins Principal of discipation of energy Clausins. increase of entropy towards a maximum, suggested a

final dead state of equilibrium in which heat is uniformaly diffused and matter for ever at rest. Recent views modify the details but leave the result unchanged active matter passes into radiation which will finally wander through a space far too vast to be come saturated with radiation and precipatate matter again. Jeans calculates that the chance against a single active atom surviving is 10 to one. The universe is running down into uniformally distributed radiation.

जिसका अभिप्राय यह है कि इस ब्रह्माण्डका भविष्य क्या है कैल्विन का शक्तिह्रास का सिद्धान्त जो परमाणुओं की शक्ति के ह्रास के सम्बन्ध में है उनसे प्रकृति की अन्तिम दशा ऐसी प्रतीत होती है जो मृत प्राय होगी और जिसमें साम्यावस्था होगी जिसमें ताप एक समान फैला हुआ होगा और प्रकृति विश्राम करेगी हाल की खोजों से विवरण में कुछ भेद आया है परन्तु अन्तिम परिणाम में कोई परिवर्तन नहीं। संयोग की शक्ति रखने वाली प्रकृति radiation के रूप में परिवर्तन हो जावेगी और अन्त में भिन्न भिन्न होकर इस खाली स्थान में रहेगी। Jeans ने पता लगाया है कि किसी एक भी परमाणु में संयोज की शक्ति रहना नहीं के बराबर है। यह ब्रह्माण्ड धीरे धीरे प्रलय की ओर जा रहा है।

सृष्टि उत्पत्ति और कारणरूप प्रकृति का वर्णन भी इसी पुस्तक के पृष्ठ ४८३ पर अच्छे शब्दों में दिया गया है—यह विचार लेखक ने महाशय J. H. Jeans की एक दूसरी पुस्तक जिसका नाम 'Eos. or thewider aspect of cosmogony है के पृष्ठ ५५ से लिये हैं।

'But if it is still running down it must at some difinite time have been wound up, it cannot have

been going for ever or it would have reached the final state of equilibrium. Jeans says "every thing points with over whelming force to a difinite event, or series of events of creation at some time or times, not infinitely remote. The universe cannot have originated by chance out of its present in gredients and neither can it be always the same as now for in either of these events no atoms would be left save such, as are in capable of dissolving into radiation. There would be neither sun light nor star light. But only a cool glow of radiation uniformally diffused in spacee. This is indeed, so far as present day science can see the final end towards which creation moves and at which it must at long last arrive.

जिसका अर्थ यह है कि यदि यह ब्रह्माण्ड रूपी घड़ी नीचे की ओर जा रही है तो इसमें किसी विशेष समय में अवश्य किसी ने चाबी दी होगी, और यह हमेशा एक समान नहीं चल सकती और इसकी अन्तिम अवस्था साम्यावस्था होगी। Jeans का कहना है कि हर चीज़ से यह बल पूर्वक निश्चित होता है कि यह सृष्टि किसी एक विशेष समय में अवश्य उत्पन्न हुई होगी और यह सारा ब्रह्माण्ड दैवयोग से इस रूप में नहीं आ सकता और न हमेशा इस रूप में रह सकता था। क्योंकि यदि ऐसा होता तो कोई भी परमाणु ऐसा न बचता जिनमें संयोग की शक्ति रहती यह वह दशा होगी कि जहाँ न सूर्यका प्रकाश होगा और न तारागणों का बल्कि एक ठण्डी तरंगरूपी प्रकाश होगा जो आकाश में फैला हुआ होगा। और वर्त्तमान विज्ञान इस ब्रह्माण्ड का अन्तिम परिणाम यही बता रहा है। कारणरूप प्रकृति का

और सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय का कितना सुन्दर वर्णन है और ईश्वर के सृष्टि रचयिता होने का भी युक्ति युक्त प्रमाण है। है। जिस अन्तिम दशा का वर्णन है अर्थात् A cool flow of radiation uniformally diffused महत्तत्त्व तक ही पहुँचता है कारणरूप प्रकृति तक यह नहीं पहुँच सकता।

महाशय Earnest william barnes Bishop of Birmingham ने एक पुस्तक प्रकाशित की है जिसका नाम Scientfic theory and religion है यह पुस्तक उन Gifford Lectures के आधार पर प्रकाशित हुई है जो एवरडीन विश्व विद्यालयमें सन २७ से लेकर सन् २९ तक दिये गये थे। उस पुस्तक के पृष्ठ ४०६ पर सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा गया है

The man of Science has his own special Perplexity. For him the time process is measured by the continual increase of entropy. In the begining of the entropy of the cosmos was a minimum. in the end all energy will be chaotic, useless. The physicial machine is visibly running down...... The law of entropy, unless indeed it be riversible elsewhere in the cosmos, points clearly alike to a beginning and to an end of those processes of material change which make life possible and seem to us inseparable from the physical world.

इसका अर्थ यह है कि विज्ञान वालों के लिये भी एक विशेष कठिनाई है उनके लिये यह काल का प्रवाह इसमें अन्तिम नाश के दृश्य से नापा जाता है। आरम्भ में इस जगत् में कारणरूप प्रकृति नाम मात्र के लिये थी और अन्त में भी सारी शक्ति छिन्न भिन्न और निष्प्रयोजन हो जायगी यह प्राकृतिक ब्रह्माण्ड प्रत्यक्षरूप से नीचे की ओर अर्थात् नाश की ओर जा रहा है।

इसको देखकर यह पता चलता है कि इस कारण रूप प्रकृति का एक अन्त भी है और आरम्भ भी और यह इसकी दशा मानना अनिवार्य है।

प्रलय सम्बन्धी एक प्रश्न यह भी है कि क्या सर्वत्र प्रलय होता है या कहीं प्रलय और कहीं उत्पत्ति। इसके सम्बन्ध में Mr. Barnes की उपर्युक्त पुस्तक के पृष्ठ २३६ पर इस प्रकार लिखा है—

The idea that there are alternate cycles during which the world as it were, alternately wound up and runs down was familiar in ancient thought. It was a part of the regular stoic creed. Of it we can only say that it is unwarranted by any experiments which we can make or by any process of nature which we can observe.

यह विचार कि हम इस दुनियां में ऐसे चक्र हैं जिनके अनुसार बारी बारी दुनियां का कोई हिस्सा बनता और बिगड़ता रहता है प्राचीन समय में प्रसिद्ध यूनान के फिलासफर इसको मानते थे। इसके सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि इसकी पुष्टि किसी परीक्षण से नहीं होती और न कानून कुदरत के किसी प्रकिया को देख कर ऐसा सिद्ध होता है।

सृष्टि उत्पत्ति का समय

प्रकृति के विषय पर विचार करते हुए इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि इसके उत्पन्न हुए कितने दिन हुए। इस पर विचार करने की इसलिये आवश्यकता है कि पहले तो अपनी तत्कालीन खोज के आधार पर पदार्थ विज्ञान वाले सृष्टि उत्पत्ति के समयको बहुत कम परिमाण में मानते थे। और ईसाई और मुसलमान मतों के अनुयायी भी सृष्टि उत्पत्ति के समय

को बहुत लम्बा मानने में संकोच करते थे जिनको प्रचलित हुए २००० या २४०० वर्ष हुए हैं उनको यह बात सहन नहीं हो सकती कि 'वैदिक धर्म या वैदिक ज्ञान एक अरब से ऊँचे वर्ष पुराना है। ऋषि ने जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं ऋषि के संवत् को एक अरब से ऊँचा लिखा है अब हमें यह विचार करना है कि पदार्थ विज्ञान वाले अपनी नवीन खोज के आधार पर कहाँ तक वैदिक सिद्धान्त की गहराई तक पहुँच सके हैं? सृष्टि की आयु का अनुमान दो प्रकार से होता है।

१—सूर्य और तारागणों की दूरी सा-वर्तमान खोज से ऐसे ऐसे सितारों और ग्रहों का पता चला है जिनके प्रकाश को इस पृथ्वी तक पहुँचने में करोड़ों वर्ष लगे हैं और उस समय से उन सितारों के रूप धारण करने से समय का पता चलता है।।

पृथिवी के अन्दर खोदने से— पृथ्वी को खोदते हैं और उसकी तहों का पता लगाते हैं और उसके अन्दर खोदने से कभी कभी पशु और मनुष्यों की हड्डियाँ मिल जाती है और कभी कोई औजार मिल जाते हैं। और कभी कोई और सूखी हुई वृक्ष की पत्ती या अन्य कोई पदार्थ मिल जाते हैं इन पुरानी वस्तुएँ को fossil कहते हैं और इन फौसिलों के आधार पर उनकी आयु से पृथ्वी की आयु का अनुमान किया जाता है।

तीसरा एक प्रकार यह भी है कि भिन्न भिन्न स्थानों में खुदाई की जाती है। और उसके अन्दर से प्राचीन प्राचीन सभ्यताओं के चिह्न व लिखित पत्थर इत्यादि मिलते हैं। उनसे भी प्राचीनता का अनुमान होता है।

यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। कि यूरोप में जहां पश्चिमी विज्ञान ने बहुत उन्नति की है वहां जो

विचार सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहूदी और ईसाई मत के अनुयायियों में प्रचलित थे वे ऐसे लाचार थे कि विज्ञान उनकी कभी पुष्टि नहीं कर सकता था और इस कारण से धर्म और विज्ञान का युद्ध वहां प्रारम्भ हुआ और वहुत दिनों तक चलता रहा। ईसाई धर्म में जो सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी विचार हैं वह यहूदियों से आये।

और ईसाइयों का जो ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त था वह भी यहूदियों की शिक्षा पर बहुत कुछ आश्रित था। ईसाइयों में यह बात प्रचलित थी कि इस सृष्टि को बने अभी दस हजार वर्ष से भी कम हुए हैं और इस पृथिवी को इस ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानते हैं। सूर्य चन्द्रमा तारागण और ग्रह सब इस पृथिवी के आधीन हैं और केवल इसी पृथिवी पर मनुष्य बसते हैं। मनुष्य की उत्पत्ति ईश्वर की एक विशेष प्रेरणा के कारण मानते हैं।

पिछले चारसौ वर्षों में ऐसे सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी विचार बिलकुल उड़ गये हैं और अब यह कोई भी मानने के लिये तयार नहीं कि सृष्टि की रचना एक सप्ताह के अन्दर होगई और वह भी अभाव से और आठवें दिन ईश्वर को आराम करने की आवश्यकता होगई। महाशय Barnes के जो प्रसिद्ध ईसाई बिशप हैं और विज्ञान के भी प्रसिद्ध विद्वान् हैं निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय हैं—

'Within the last four centuries the old Jewish cosmology has venished Science has created an entirily different picture of the nature and duration of the universe. The single act..or week..of creation is replaced by a process of un imaginable extent whose beginnings allude us. And through soberly argumentative speculation carries them back for

at least tens of thousands of millions of years the earth far from being the centre of the universe, is minor planet of a solar system whose central luminary is one of at least some fifty thousand million of suns. Even this vast agreegate of suns does not exhaust the visible universe. It is in fact but one of many island universes of comparable magnitude, for the age of tne earth, astronomers and physicists come to periods which exceed a thousand million years.

पिछले चार सौ वर्षों में यहूदियों की सृष्टि उत्पत्ति के विचार बिलकुल उड़ गये हैं। विज्ञान ने इस ब्रह्माण्ड के उत्पत्तिकाल और वास्तविक दशा के सम्बन्ध में एक बिलकुल नवीन चित्र संसार के सम्मुख उपस्थित कर दिया है। सृष्टि उत्पत्ति के सप्तांह के स्थान में एक ऐसी प्रक्रिया मानी जाती है जिसके आरम्भिक-काल का ठीक ठीक पता नहीं लगता—फिर भी गम्भीरता से विचार करने पर अरबों की संख्या तक पहुँचता है। यह पृथिवी इस ब्रह्माण्ड का केन्द्र नहीं है यह तो सूर्य जगत् का एक छोटा सा ग्रह है और जिसका केन्द्र लाखों सूर्यों में से एक है। और इतने सब सूर्य मिलकर भी इस ब्रह्माण्ड की महिमा को समाप्त नहीं करते। इनके अतिरिक्त ऐसे बहुत से लोक हैं।

पृथिवी की आयु के सम्बन्ध में ज्योतिःशास्त्र और पदार्थ विज्ञान वालों ने हिसाब लगाया है कि एक अरब वर्ष से ऊपर हो चुका। इन विचारों से पता चलता है कि जहाँ विज्ञान की उन्नति से अन्य मतों के अनुयायी अपने सिद्धान्तों के मिट जाने का भय करते हैं उसके दूसरी ओर जितनी विज्ञान की उन्नति होती जाती है, वैदिक सिद्धान्त की पुष्टि होती जाती है।

सृष्टि की आयु

सृष्टि की आयु के सम्बन्ध में हमने ऊपर आयु निकालने के सिद्धान्त दिये हैं। यहाँ यह लिख देना पर्याप्त है कि तारागणों के खोज के आधार पर इस सृष्टि की आयु जैसा कि हमने ऊपर बताया है एक अरब वर्ष से ऊपर है। अब हम यहाँ भूगर्भ विद्या के आधार पर यह बतलाना चाहते हैं कि सृष्टि की आयु कहाँ तक वैज्ञानिक रूप से सिद्ध होती है। भूगर्भ विद्या ने पृथिवी की तहों को देखकर पृथिवी के भीतरी भाग को आठ विभागों में विभक्त किया है सब से नीचे को Ezoic era कहते हैं और इसकी आयु ५० करोड़ वर्ष है और सब से अन्तिम की ६ करोड़ वर्ष पुरानी है उसे Tertiary or Canozoic era कहते हैं।

पहले पहल मनुष्य कहां उत्पन्न हुआ।

यह भी एक बड़ा रोचक प्रश्न है कि सृष्टि उत्पत्ति में सब से पहले मनुष्य कहाँ उत्पन्न हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि तिब्बत में मनुष्य की उत्पत्ति हुई। और उनका यह भी कहना है कि इस संसार में जो सब से पहला स्थल का भाग निकला वह तिब्बत में निकला जिसे पामीर या दुनियाँ की छत कहते हैं। अब हमें यह देखना है कि पश्चिमी विज्ञान इस सम्बन्ध में किस परिणाम पर पहुँचा है। महाशय Barnes की उपर्युक्त प्रस्ताव से हम एक उद्धरण प्रस्तुत करना चाहते हैं। पृष्ठ ५३८

The craddleof humanity it may be asked whether therewas not more than one focus where man was made and from which the various species and races of men were diffused. Apparently therewas only one such focus situated either as has been suggested in central Asia north east of Tibet or as Elliod smiths suggests near the Caspian sea or in Indo Malaya continentwhich

has since been broken......but such meagre evidence as we have a indicates that at first sub men and later the primitive races of home Caspians came from one and the same religion.

मनुष्य की आरम्भिक उत्पत्ति

यदि यह पूछा जाय कि क्या एक से अधिक जोड़े थे जिस से आदमी बनाया गया जिन से मनुष्य की भिन्न भिन्न जातियाँ और उपजातियाँ बन कर फैल गईं। प्रत्यक्ष है कि ऐसे ही केवल एक ही ऐसा रूप था जो मध्य एशिया में तिब्बत के उत्तर पूर्व के कौने में पैदा हुआ था। या जैसे कि इलियट स्मिथ की राय है शेस्पियन सागर के पास या इण्डोमलाया महाद्वीप में जो अब नष्ट हो गया है।

इसी पुस्तक में वह यह भी लिखते हैं कि किसी पूर्व जमाने में मध्य एशिया से नवीन जातियाँ आकर यूरोप में वसीं और वही वर्तमान यूरोपियन जातियों के पूर्वज हैं।

इस खोज से भी ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त की पुष्टि होती है और जो मनुस्मृति में लिखा है वह ठीक सिद्ध होता है अर्थात् मनुष्य का तिब्बत के समीप पैदा होना और तमाम संसार की जातियों का यहाँ से फैलना।

क्या आरम्भिक सृष्टि अमैथुनी होती है ?

इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है। यदि हम आरम्भ में उत्पत्ति का प्रकरण अमैथुनी नहीं मानेगे तो मैथुनी मानने में आपत्ति आएगी क्यों कि मैथुन के लिये पूर्व से युक्त स्त्री और पुरुष का उपस्थित होना आवश्यक है और यह भी विचारणीय है कि जब तक आरम्भिक सृष्टि अमैथुनी नहीं मानी जायगी यह क्रम जो दृष्टिगोचर होता है समझ में नहीं आ सकता।

यही एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिये कि जहाँ अमैथुनी सृष्टि का प्रश्न आता है वह केवल शरीर निर्माण के सम्बन्ध में है क्यों कि जीव अनादि है। और अमैथुनी प्रकार से शरीर का निर्माण हो जाने पर पूर्व सृष्टि के शेष कर्मों के अनुसार जीव का सम्बन्ध उस शरीर से हो जाता है। शरीर निर्माण अब भी प्राकृतिक वस्तुओं के संयोग और प्राकृतिक विषयों के आधार पर होता है पश्चिमी विज्ञान ने इस बात की खोज की कि क्या अमैथुनी सृष्टि हो सकती है। वह जिस परिणाम पर पहुँचे हैं उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

Barnes की पुस्तक के पृष्ठ ४५१

Parthenogenesis in some primitive organisers: reproduction occurs simply by badding the fusion of two cells is not a necessary priliminary to the formation of a new Individual.

अर्थात् आरम्भिक दशा में योनियों में उत्पत्ति केवल एक ही शरीर से हो जाती है।

इसी सम्बन्ध में आरम्भिक दशा में मनुष्यों का युवा दशा में पैदा होना भी समझ में आ सकता है क्योंकि यदि युवा न होतो उनका पालन कैसे होता। यहाँ यह बात भी स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि मनुष्य की उत्पत्ति से पूर्व वृक्षों और पशुओं की उत्पत्ति हो चुकी थी और इस अंश में विकाश माननी आवश्यक है। यह विकास समय की दृष्टि से है परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि वृक्षों से पशु और पशुओं की उन्नत दशा का नाम मनुष्य है। सब योनियाँ अपने अपने कर्मों के आधार पर परमात्मा ने रची हैं और ज्ञान मनुष्य को ही प्रदान किया गया है और मनुष्यों को अन्य सब योनियों के और संसार के सब पदार्थों के नाम और रूप बताने थे और उनको ज्ञान देना था और उनको

उत्पत्ति इन से पूर्व होनी चाहिये। हम जीव सम्बन्धी निबन्ध में यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि वृक्ष पशु और मनुष्य की योनियों में जो शरीर निर्माण में समानता है वह इस बात का द्योतक है कि इनकी निर्माता और रचयिता एक महान दैविक शक्ति है जिसे हम जड़ और चेतन जगत् का विश्व कर्मा या विधाता कह सकते हैं। पदार्थ विज्ञान में अपने इस खोज में पश्चात् जड़ और चेतन के भेद को दूर नहीं किया है बल्कि उसकी विभिन्नता को और भी स्पष्ट कर दिया है। ईश्वरीय महिमा और जीवों के कर्म फल की व्यवस्था और जड़ जगत् में उत्पत्ति वृद्धि और नाश ये सब एक ही प्रश्न के भिन्न भिन्न रूप हैं और सब मिल कर यह बात सिद्ध होती है कि प्राचीन वैदिक सिद्धान्त से ईश्वर जीव प्रकृति तीनों अनादि है यही एक अटल सिद्धान्त है। प्रकृति में परिवर्तन और जीवों को कर्म व्यवस्था ईश्वरीय प्रेरणा के आधीन है। इस प्रकृति के प्रश्न के साथ विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है विचार की दृष्टि से विज्ञान धर्म का पोषक और उसको युक्ति युक्त सिद्ध करने वाली होनी चाहिये कभी कभी और कहीं कहीं इन दोनों में मत भेद हो जाता है इसका क्या कारण है और यह भेद किस आधार पर मिटाया जा सकता है इस विषय को समाप्त करने से पूर्व हम इसको स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

धर्म और विज्ञान

धर्म और विज्ञान का परस्पर सम्बन्ध समझने के लिये यह आवश्यक है कि दोनों का अभिप्राय समझ लिया जावे। धर्म उन नियमों का नाम है जिनके अनुसार चलकर मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कर सके। धर्म के अन्तर्गत ज्ञान और कर्म दोनों ही सम्मिलित हैं। ज्ञान पूर्वक कर्म का नाम ही धर्म है। इसलिये जिससे ज्ञान की वृद्धि में सहायता मिले वह तो धर्म व उन्नति का साधन है उन दोनों में विरोध नहीं हो

सकता । विज्ञान या साइंस जानने को कहते हैं संसार में जो नियम काम कर रहे हैं उनको जानना साइंस है और हम अधिक से अधिक साइंस की उन्नति करें तो भी नियम ही जान सकते हैं और नियमों से निर्माता का पता चलता है इसलिये विज्ञान और धर्म में विरोध उस समय हो सकता है जब धर्म का आधार अज्ञान हो या विज्ञान अधूरा हो और अन्तिम परिणाम तक न पहुँचाने वाला हो ।

Barns von Hegal ने साइंस को the purgatory of relgion कहा है । उसका कहना है 'The study of nature purifies our ideas about God and reality' अर्थात् विज्ञान धार्मिक विचारों का शोधक है, कुदरत के कानून का स्वाध्याय हमारे ईश्वर सम्बन्धी और इस जाति सम्बन्धी विचारों को शुद्ध और पवित्र बनाता है ।

Sir john seely ने एक पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने इस प्रकार लिखा है । 'That the man of science worships a greater God than the average church goer' अर्थात् एक औसत दर्जे के गिर्जे जाने वाले से एक विज्ञानवेत्ता ईश्वर के महत्त्व को अधिक समझता है और इसलिये वह उसका बड़ा पुजारी है ।

विज्ञान के पांच विशेष लक्षण

I. विज्ञान के पांच विशेष लक्षण हैं विज्ञान उन मौलिक सिद्धान्तों के जानने के लिये है जो इस संसार की वस्तुओं की बनावट में काम कर रहे हैं । विज्ञान कोई नई चीज उत्पन्न नहीं करता ।

II किसी बनी हुई चीज को यदि हम देखते हैं और यदि हम उसके बनने का विज्ञान जानना चाहते हैं तो जो उसके बनने में एक के पश्चात् दूसरी क्रियाएं हुई हैं हम उनको जानते हैं । और पहली क्रिया के कारण और उससे पीछे आने वाली क्रिया

को कार्य के रूप में समझते हैं। हमें एक वृक्ष का उदाहरण अपने सामने रखना चाहिये। पृथिवी तैयार की जाती है, उसमें खाद डाला जाता है, पानी से उसको सींचा जाता है, फिर उसमें बीज डाला जाता है, बीज डालने के पश्चात् उसमें फिर धूप और पानी पहुँचाया जाता है उसमें से अंकुर निकलता है, उसके पास व्यर्थ की घास उग आती है, उसको हटाया जाता है पशु और पक्षियों से उसकी रक्षा की जाती है फिर वह वृक्ष बड़ा होता है और फल देता है या उससे फूल निकलते हैं। यह जितने उपाय काम में लाये गये यह सब क्रम (Processes) हैं जिनमें होकर फल देने के योग्य होने के लिये वृक्ष को गुज़रना पड़ा है। इस सारे क्रम में अर्थात् (Processes) में एक चलाने वाला है चाहे वह दृश्य हो चाहे अदृश्य जो बाग़ में माली काम करता है वैसा ही काम कोई अदृश्य माली जंगलों में और पर्वतों पर कर रहा है। खेत में अनाज पकता है और चूल्हे पर रोटी पकती है दोनों स्थानों में जो पकना है उनमें कुछ क्रम है—खेत में पकने की साइंस को जानना The science of agrouilture है और चूल्हे में रोटी पकने की Science cooking है। इसी प्रकार हम एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न विज्ञान के आधार पर भिन्न भिन्न रूप से उसके बनने के क्रम के देख सकते हैं जैसे Physics और Chemistry प्राकृतिक वस्तुओं के दो रूप हैं। स्वास्थ्य शरीर का विज्ञान Physiology है। शरीर निर्माण Pathology और मनोविज्ञान Psychology है। इन सबमें तारतम्य है यदि हम बजाय इसके, कि Preceeding Process अर्थात् पहले आने वाले क्रम को पीछे आने वाले का कारण समझें हम दोनों के क्रम समझें और उनका निमित्त कारण समझलें और उपादान कारण और साधारण कारण तो हमारा विज्ञानक्रमों का जानना पूर्ण हो सकता है।

३—विज्ञान के आविष्कार हमारे इन्द्रियों क त्रुटि के पूर्ण करने वाले हैं हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और कर्मेन्द्रियाँ । विज्ञान इनके बलों में वृद्धि करता है। हमारी आँखों से न बहुत दूर की चीज दीखती है और न बहुत पास की और न बहुत बारीक Telescope or Microscope इस त्रुटि को पूर्ण करते हैं। हमारे कान सीमित शक्ति वाले हैं तार वाले तार और बेतार वाले तार ग्रामोफोन और रेडियो सब इसके सहायक हैं। हमारे पैर सीमित शक्ति वाले हैं। मोटरकार इत्यादि उनमें गमन शक्ति को बढ़ाते हैं। मशीनं हाथों की शक्ति को बलवान करती हैं इसी प्रकार हम हवा में उड़ नहीं सकते अतः हवाईजहाज उसमें सहायता करते हैं। विज्ञान का सम्बन्ध इन्द्रियों से है। Philosophy या तत्वज्ञान का मन से और धर्म का जीवात्मा से। साइंस और फिलासफी Religion के लिये आवश्यक अङ्ग है।

४—नयावाद प्रतिपादित करना भी कोई विज्ञान के लिये विशेष गर्व की बात नहीं है। आकर्षण शक्ति का नियम जबसे सृष्टि बनी है हमेशा काम करता रहा है। हमेशा से ऊपर से फेंकी हुई चीज नीचे ही आती है। यदि न्यूटन से पहले किसीने इस नियम को नहीं समझा तो उस समय तक अपनी मूर्खता का परिचय देते हैं। प्रचलित नियम को जान लिया ठीक है। परन्तु नियम तो उससे पूर्व भी था और भविष्य में भी रहेगा केवल उसका समझ लेना ही विज्ञान का काम हुआ। इस दृष्टि-कोण से विज्ञान का ठीक उद्देश्य सहज में समझ में आजाता है।

५—विज्ञान से भिन्न भिन्न पदार्थों के और भिन्न भिन्न प्रकार के पशु पक्षियों और मनुष्यों के शरीर के निर्माण में जो सामान्यता और विभिन्नता है वह समझ में आती है। यह समानता और भिन्नता किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये है इस

दृष्टिकोण से विकासवाद की खोज से धार्मिक विचारों की पुष्टि होती है। एक विश्वकर्मा सबका विदित होता है और दुःख या प्रतिकूल परिस्थिति से किसी प्रकार उन्नति होती है यह बात भी सहज में समझ में आजाती है।

५—सारा विज्ञान Analys is पर समाप्त हो जाता है अर्थात् विश्लेषण पर। हम एक गुलाब के फूल को तोड़कर उसके रंग-रूप रस और गन्ध का पता लगाते हैं। इसी प्रकार हम एक पशु या पक्षी को चीड़ फाड़ कर उनके शरीर निर्माण की व्यवस्था का पता चलाते हैं। परन्तु अभी गुलाब के फूल की जिसको हमने स्वयं तोड़ा है अभी सब सामग्री उपस्थित है विज्ञान की दृष्टि से न उसका Quality में भेद आया है, Quantity में अर्थात् गुण और परिणाम एकसे हैं परन्तु उसी सामग्री से हम फिर फूल नहीं बना सकते। बिन उस सामग्री के दूसरा फूल बनाना तो असम्भव है ही। यही हाल पशु और पक्षियों का है। हम अपनी खोज की चाह में एक जीवित प्राणी को निर्जीव कर देते हैं परन्तु एक क्षण के लिये भी फिर उसको जीवित नहीं बना सकते। यह सारा विज्ञान बतलाता है कि हम किसी दूसरे की बनाई हुई चीजों के बनाने के नियम को केवल अधूरा समझ सकते हैं इससे अधिक कुछ नहीं।

६—विज्ञान के अन्य आविष्कार प्राकृतिक नियमों के अनुकरण हैं और उनमें भी कोई विशेष विचित्रता नहीं है। हवाई जहाज चीलों और कौवों के उड़ने का अनुकरण है और वह भी अपूर्ण सा। पशु पक्षी अपने परों पर आकर्षण शक्ति को निस्प्रेय कर देते हैं और इसलिये नहीं गिरते और उड़ सकते हैं उनकी देखादेखी हवाई जहाजों में भी विंग्स लगाए गये हैं मछलियों में जो तैरने के साधन हैं उनका अनुकरण जहाज में है। पक्षी नदी के एक पार से दूसरी पार वार्तालाप कर लेते हैं इसका

विकसित रूप wireless है। हमारी आँखें नित्य प्रति फोकस लेती हैं और फोटोग्राफी सदैव होती रहती है जैसे हमारी आँखों में जो चीज़ सामने आती है उसका अक्स उलटा पड़ता है परन्तु हम उसको सीधा देखते हैं। चित्रकला में भी यही बात है जहाँ तक मैंने समझा है विज्ञान में यही विशेषताएँ हैं और इनको लक्ष्य में रखकर क्या कोई यह साहस कर सकता है कि विज्ञान को किसी अंश में भी धर्म का विरोधी समझ सके। यदि धर्म मत होगा और विज्ञान वितण्डा तो द्वेष हो सकता है। रूढ़ियों से वंचित धर्म और उदार और पूर्णता को प्राप्त विज्ञान एक ही प्रश्न के सही उत्तर है। और एक ही चित्र के दो पहलू हैं।

चाहे विकासवाद हो चाहे उत्पत्तिवाद सब इस जगत् के निर्माण में बुद्धिमत्ता और प्रयोजन सिद्धि को निश्चित करते हैं जब विज्ञान का युग आरम्भ हुआ पश्चिम में धर्म का स्थान अन्धविश्वास ने लिया हुआ था और विज्ञान भी बहुत अधूरा था दोनों में कलह उत्पन्न होगई। जब ईसाइयों ने अपने दृष्टिकोण को उदार कर लिया और या प्रचलित ईसाई धर्म को त्याग दिया और विज्ञान ने कार्य जगत् की उलझनों से छुट्टी पाकर कारण रूप प्रकृति तक पहुँच सके उसी समय धर्म और विज्ञान एक दूसरे के सहायक और पोषक होगये।

सौर जगत् और उसकी मीमांसा

प्राचीन कल्पनायें:—

रूढ़ि वाद—

मानवी मनन शक्ति के प्रादुर्भाव के समय मनुष्य ने अपने कार्य-क्षेत्र इस पृथ्वी को चपटी माना था। यह एक स्थान परिस्थित भी मानी जाती थी। ओल्ड टेस्टामेंट में यही मत प्रदर्शन किया

है और यहुदियों में भी यही विचार प्रचलित था। यूनानी विद्वान् पृथ्वी को एक ग्रह मानते थे। वह यह मानते थ कि सृष्टि का केन्द्र यही पृथ्वी है। २५० वर्ष ईसा से पूर्व एक यूनानी विद्वान् ने यह भी कह दिया था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। परन्तु यह प्रस्ताव पूर्वों लिखित प्रस्ताव के सन्मुख ठहर न सका था।

पाईथा गोरस का मत था कि ग्रह एक प्रकार के पार दर्शक अण्डों के अन्दर रहते हैं और उन अण्डों के साथ साथ पृथ्वी के चारों ओर घूमते हैं। सिकन्दरिया के ज्योतिषियों के मत से यह सिद्धान्त अनुमोदित होता था। यह विचार योरप में लगभग १४० वर्ष ईसा के बाद तक प्रचलित रहा। टॉलेमी ने सूर्य चन्द्र तथा अन्य ग्रहों के चलने के विषय में यह कहा था कि यह ग्रह छोटे छोटे व्रतों में घूमते हैं और इन व्रतों के केन्द्र पृथ्वी के चारों ओर एक बड़े व्रत में घूमते हैं। अरबी ज्योतिषियों ने छोटे छोटे गोलों की संख्या बहुत बढ़ादी थी।

जब मनुष्य ने प्रथम बार अपने निवास स्थान के विषय में विचार करना प्रारम्भ किया तो स्वभाव से अपने कार्यों के ठोस आधार पृथ्वी को न्यूनाधिक एक चपटी चीज़ माना था। अनिवार्य्य रूप से उसने पृथ्वी को स्थिर माना यह सरल सिद्धान्त old Testament में देखा जाता है और यहूदियों के जन साधारण विचारों से यह ईसाई मतों में लिया गया था।

जहां तक हम जानते हैं पृथ्वी के गोलाकार होने की सच्ची कल्पना सर्व प्रथम यूनानी विद्वानों में उत्पन्न हुई। यह उनके शिक्षित वर्ग में खूब प्रचलित हुई और अरस्तु (Aristable) द्वारा स्वीकार की गई। लगभग २०० बी० सी० के Erasto thenes (एरेस्टोथिनीज़) ने पृथ्वी का व्यासार्ध निश्चित किया था।

अधिकांश यूनानी विद्वानों का फिर भी यह विचार था कि ब्रह्मांड का केन्द्र गोलाकार पृथ्वी स्थिर थी यह ठीक है कि इसके विपरीत सम्मति कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है सैमोस निवासी Aris ter chus ने लगभग २५० B. c. के प्रस्तुत की थी। परन्तु यह सम्मति अपने को सिद्ध करने में स्वयं असफल रही। Archineedes आर्कीडीज की विरुद्ध समालोचना इसकी असफलता के स्पष्टीकरण रूप में विद्यमान है।

सामान्यता स्वीकृत सिद्धान्त जो कि यूनानियों से मध्यम कालिक यूरोपियन विचारों में आया था कि समस्त गृह स्फटिक गोलों व चक्रों में पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाते हैं और चीजों की सारी तरतीब एक अन्तिम वृत्त के अन्दर बन्द थी जिसमें स्थिर तारे जड़े हुए थे। इस बात का प्रमाण मिलता है स्फटिक चक्रों की यह तरतीब जो कि स्वर्गीय शरीरों का वाहन हैं और विश्व की दैविक एकता से रहस्यमय विधि में सम्बन्धित हैं, एक Pythagrean सिद्धान्त था। और यही इस ज्योतिष विद्या से उस पद्धति से बिलकुल मिलता था जो Alexendaria ने माध्यम कालिक योरुप को सौंपी थी। Ptoleury टौलेमी ने भी अपने बड़े ग्रन्थ अलमैजेस्ट (Almajest) में, जो कि १४० ए. डी के लगभग प्रकाशित हुआ था, यही माना था कि पृथ्वी विश्व का स्थिर केन्द्र थी। टौलेमी का सूर्य्य चन्द्र, तथा अन्य ग्रहों के चलने के विषय में यह मत था कि वे छोटे २ गोलों में घूमते हैं और उनके केन्द्र पृथ्वी के चारों ओर एक बड़े गोले में घूमते हैं। ठीक २ अनुमानों की वृद्धि के साथ अरबी ज्योतिषी इन छोटे २ गोलों की अत्यधिक संख्या मानने के लिये बाध्य हो गये, परन्तु सारी पद्धति ने एक विषम रूप धारण कर लिया।

सौर-केन्द्र प्रस्ताव की उत्पत्ति व विजय।

कूपर नीकस ने १५४८ ईसवी में अपनी एक पुस्तक on the

Revolution of the celestial bodies में इस प्रस्ताव का कि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी घूमती है अनुमोदन किया है। उसके विचार में अब सूर्य जगत का केन्द्र हो गया था जिसके चारों ओर अन्य ग्रह छोटे छोटे गोलों में घूमते हुए माला के दानों की भाँति चक्कर लगाते थे। इस साधारण सम्मति के विपरीत ब्रूनों ने पचास वर्ष बाद अण्डाकार जगत् के विचारों को छिन्न भिन्न कर डाला। उसके विचार में जगत् का असीमित फैलाव था और हमारे सूर्य के समान अनेकों सूर्य इस जगत में विध्यमान थे। ज्योतिषी Tycho Brahu के बहुत वर्षों पर्य्यन्त किये गये अनुमानों के समूह से भूतपूर्व सहायक कैपलर के सत्रहवीं सदी प्रारम्भ में ग्रहों के परिचालन के तीन नियमोंका पता लगाया। उसके मत में भी सूर्य इस जगत का जिसमें पृथ्वी स्थित है, केन्द्र है। गैलिलियो इसी मतका प्रतिपादन करता हुआ मार डाला गया। शनैः शनैः यह प्रस्ताव दृढ़ हो गया और अब यही माना जाता है कि सूर्य असंख्य स्थित तारों में से एक है और इस पृथ्वि का जगत् उसके चारों ओर घूमता है।

इस प्रस्ताव के प्रतिपादन में न्यूटन द्वारा आविष्कृत आकर्षण शक्ति के विचार ने बहुत सहायता पहुँचाई। वह यह मान कर कि प्रकृति का प्रत्येक अणु एक दूसरे को आकर्षित करता करता है चला और इसी से हमने कैपलर के तीन नियमों का प्रतिपादन कर दिया। न्यूटन ने ज्योतिष शास्त्र में दो नियम और बनाये Differential and intgral calculus. इन नियमों से यह ज्ञात हुआ कि इस ओर जगत में पृथ्वि और सूर्य के अतिरिक्त और भी ग्रह होने चाहिए और धीरे धीरे अन्य ग्रहों का पता भी लग चुका है। बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, वृहस्पत, शनिश्चर यूरेनस नैपचन और प्लुत ये बड़े ग्रह हैं। ये ग्रह सूर्य

के चारोंओर अण्डाकार गोलों में घूमते हैं और अपनी कीली पर भी घूमते हैं। इन ग्रहों के चारों ओर प्रायः अण्डाकार दायरे में इनके उपग्रह घूमते हैं। परन्तु इन उपग्रहों के चलने की शिक्षा एक ही नहीं है किसी किसी ग्रह के उपग्रह भिन्न दिशाओं में भी घूमते हुए दिखाई देते हैं।

पृथिवी इसका आकार, परिमाण इत्यादि

पृथ्वी की सतह पर नापने से इस आकार व परिमाण का हिसाब लगाना सम्भव है, आकार में पृथ्वी गोलकार है परन्तु ध्रुव पर कुछ चपटी हो गई है। विषुवत रेखा पर पृथिवी का Diameter व्यास ७६२५ मील है और दोनों ध्रुवों का मिलाने वाला Diameter व्यास इससे २८ मील कम है। बहुत से प्रयोगों के बाद पृथ्वी का mass ६×१०२७ ग्राम जाना गया है। पृथ्वी का परिमाण व घन जानते हुये हम उसकी मोटाई (Density) पता लगा सकते हैं जो कि पानी की मोटाई से लगभग ५½ गुना अधिक है।

सूर्य्य की दूरी व परिमाणः—

सूर्यकी मध्य परिमाण व अन्तर्गत दूरी लम्बन parallax नापों से जानी जाती है। यह Parallax अर्थात् लम्बन की समस्या नक्षत्र विज्ञान के ज्ञाताओं को काफ़ी कठिन प्रतीत होती हैं परन्तु इसका विचार बिल्कुल साधारण है। किसी दूर स्थित बिन्दु 'अ' का लम्बन उसकी दिशाओं का अन्तर होता है जो कि किन्हीं दो निरीक्षकों द्वारा देखा जाता है। इसी आधार पर सूर्य्य का अन्तर्गत लम्बन ८×८०३ है और इस हिसाब में .००1" से अधिक त्रुटि की सम्भावना नहीं है। सूर्य्य पृथ्वी से लगभग६२८७००००मील है। सूर्य्य का डायामीटर ८६४००८ मील है सूर्य्य का पिंड १.६८५×१०३३ ग्राम है सूर्य्य का घनत्व १.४१ गुना पानी से

अधिक है। पृथ्वी घनत्व में सूर्य से लगभग ४ गुनी है। सूर्य के केन्द्र की गरमी लाखों डिगरी होगी।

अन्य ग्रहों के विषय में:—

वृहस्पति सब ग्रहों में बड़ा है। इसका Diametre ६०००० मील है। पृथ्वी के पिंड से इस का पिंड ३१७ गुना है। जो कि सूर्य्य के पिंड से लगभग एक हज़ार गुना बैठता है। सारे जगत् के सब ग्रहों के सम्मिलित पिंड से से भी इसका पिंड अधिक है। इसका घनत्व पानी के घनत्व से १-६ गुना है। सूर्य से इसकी दूरी प्रायः पांचसौ लाख मील है।

प्लूटो के आविष्कार से पहले नैपच्यून बाह्यतम ग्रह समझा जाता था। नैपच्यून Neptune सूर्य से अट्ठाईस अरब मील की दूरी पर है। यह सूर्य के चारों ओर १६४८ वर्ष में चक्कर लगाता है। इसका पिंड पृथिवी के पिंड से १७ गुना है और घनता पानी से १०६ गुना है। वहाँ की उष्णता शायद—२२० Centigrade होगी। इस उष्णता पर वातावरण का नाइट्रोजन ठोस हो जाता है और ऑक्सिजन द्रवरूप में रहता है।

प्लूटो का पता सन् १९३० में लगा था। सूर्य से इसकी दूरी प्रायः सैंतीस अरब तैंतीस करोड़ मील है। यह २४७ वर्ष में सूर्य की प्रदक्षिणा करता है। शुक्र और मंगल ग्रहों के विषय में कहा जाता है कि शायद इनमें जीव रहते हैं। शुक्र का धरातल पृथ्वी के धरातल से कुछ कम है और उसका घनत्व पृथ्वी के घनत्व से ८८ प्रतिशत है। इस प्रकार जो आदमी हमारी पृथ्वी पर १½ मन का है शुक्र में वही आदमी एक मन दस सेर का होगा। हमें अभी तक मालूम नहीं है कि शुक्र अपनी कीली पर कितनी देर में घूमता है। यह भी सम्भव है कि शायद वह सदैव एक ही तरफ़ से सूर्य के सम्मुख रहता हो। यदि ऐसा हुआ तो अंधेरा हिस्सा निवास के योग्य कदापि न होगा। पूर्णतया अभी यह

प्रश्न हल नहीं हो सका है, परन्तु विद्वानों की धारणा है कि वहाँ हमारी पृथ्वी के सदृश जीव रहते होंगे। मंगल के धरातल का दूरवीक्षण यन्त्रों द्वारा देखने से ज्ञात हुआ है कि वहाँ लाल धरती पर काली-काली सीधी लकीरें हैं। कुछ विद्वानों ने इससे यह धारणा की थी कि ये रेखाये नहरें हैं और इससे यह परिणाम निकाला है कि वहाँ पर बुद्धिमान जीव भी रहते हैं। परन्तु बरनार्ड Bernard महाशय ने यह देख कर कहा था कि इन रेखाओं का नहर होना सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु अनुभव से ज्ञात हुआ है कि (मार्श) मंगल की सतह पर पानी की तरी ५ प्रतिशत और ऑक्सजन १५ प्रतिशत अपनी पृथिवी की तरी और ऑक्सजन का है। हाँ मंगल के ध्रुवों पर जाड़े के दिनों में वर्फ सी दिखाई देती है और जल्दी ही यह पिघल जाती है। पृथ्वी की भांति यहाँ के ध्रुवों पर सदैव वर्फ नहीं रहती। इन सब बातों को देखने से यही सिद्ध होता है वहाँ पानी की कमी है और उसकी धरातल का बहुत बड़ा भाग रेगिस्तान होगा। परन्तु जब हम देखते हैं कि जीव किस प्रकार अपनी परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल लेता है तो हम कह सकते हैं कि मंगल में छोटे जीव जरूर रहते होंगे।

सौर जगत् की उत्पत्ति

लाप्लास महाशय ने १७९६ ई० में एक पुस्तक द्वारा एक सिद्धान्त सौर जगत् की उत्पत्ति के विषय में प्रस्तुत किया। इन का कहना था कि एक उष्ण द्रवित वाष्प पदार्थ का गोला घूमता था जैसे-जैसे वह ठण्डा होता था वह सुकड़ता था। अपनी गति को कायम रखने के लिये जैसे-जैसे सुकड़ता वैसे ही वैसे शीघ्र गति से वह घूमता था। एक अवस्था ऐसी आती थी जब घूमने की गति इतनी तीव्र हो जाती थी कि विषुवत् रेखा पर जो आकर्षण की शक्ति होती थी उस से कहीं अधिक विकेन्द्र की

शक्ति हो जाती थी। इस का परिणाम यह होता था कि धीरे-धीरे विषवत रेखा पर से धरातल के टुकड़े टूट कर आकाश में छल्लों के आकार में फेंकते थे। जैसे-जैसे इन छल्लों का तल ठण्डा होता था, ये ग्रह होजाते थे। द्रव पदार्थ का जो गोला रह जाता था वह सूर्य होगया।

परन्तु यह सिद्धान्त आलोचना की चोट को न सह सका। नया सिद्धान्त यह था कि सूर्य के इतिहास में कभी कोई घूमता घामता तारा उसके इतना समीप आगया कि सूर्य बिखर गया। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का श्रेय चैम्बरलैन और मौलटन को दिया जाता है। जीन और जैफरी ने इस सिद्धान्त में कुछ सुधार किये। परन्तु सब यही कहते हैं कि हमारे सूर्य के निकट दूसरे सूर्य के आजाने से हमारे सूर्य में बड़ी बड़ी लहरें सी उठीं और उसमें से एक टुकड़ा जो बीच में मोटा था टूटकर अलग होगया। इस प्रकार उस गोले में से जो केन्द्र के समीप का टुकड़ा टूटा वह बड़ा और उभरा पिंड भी ज्यादा है। इस प्रकार के ग्रह बृहस्पत और शनिश्चर है। चूंकि बड़े ग्रहों की आकर्षण शक्ति अधिक थी अतः छोटे ग्रहों का हलका द्रव्य उन्होंने खींच लिया। बड़े ग्रहों का घनत्व इसीलिये छोटे ग्रहों के घनत्व से कम होता है। बड़े ग्रह जब सूर्य से पृथक हुए थे तब वह भी तरल वाष्प के बने हुए थे, और जिस प्रकार सूर्य के ग्रह पृथक हुए होंगे उसी प्रकार ग्रहों से उपग्रह।

पार्थिव जगत् के विषय में:—

पृथ्वि और उसके उपग्रह चन्द्र या जो भी कोई अभी अज्ञात हों पार्थिव जगत् कहे जा सकते हैं। सूर्य के निकट जाने पर ग्रहों की उत्पत्ति का जो सिद्धान्त है सौर जगत की सृष्टि को समझाने के लिए तो पर्याप्त है परन्तु चन्द्रमा की उत्पत्ति को सिद्ध नहीं कर सकता। चन्द्रमा की उत्पत्ति का कारण बतलाना कठिन

है। चन्द्रमा का गुरुत्व बहुत अधिक है और माप भी ज्यादा है। इसका गुरुत्व पानी से ३$\frac{1}{3}$ गुना और उसका mass मास पृथिवी के मापका $\frac{1}{80}$ है। केवल बृहस्पति के दो चाँद और शनिश्चर का एक चाँद गुरुत्व और माप में इतने हैं। यह तो निश्चित है कि यह पृथ्वि से उत्पन्न हुआ है परन्तु यदि लहर वाले सिद्धान्त के अनुसार इसकी सृष्टि हुई होती तो इसके मास में कमी होना आवश्यक था।

अतः दूसरी धारणा जो इसकी उत्पत्ति के विषय में की जा सकती है वह यह है। चन्द्रमा का जन्म उस समय हुआ जब पृथिवी पूर्णतया तरलावस्था में थी। किसी समय में सूर्य की लहरों और चन्द्र-पृथ्वी गोलक के ज्वारों का समय समान था। इस समता के कारण पृथक पृथक् लहरों का सम्मिश्रण हो जाने से बहुत मास पिंड वाला चन्द्रमा पृथ्वी से टूट कर अलग होगया। जैफरी के मत में ऐसा प्रायः ४ अरब वर्ष पूर्व हुआ होगा।

चन्द्रमा में वायु नहीं है इसलिये वहाँ जीवों का रहना भी नहीं हो सकता। वहाँ पानी की वाष्प भी नहीं है क्योंकि यदि रही भी होगी तो सूर्य ने उसका शोषण कर लिया होगा। रात्रि में अधिक ठंड और दिन में अधिक गर्मी पड़ती होगी। वहाँ रात्रि और दिन १५-१५ दिन के होते हैं।

सौर जगत की सृष्टि

जगत का रूप—

आधुनिक अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि जितने तारे हम अपनी आँख द्वारा देखते हैं उनसे कहीं अधिक हमें दूरबीक्षण

यन्त्र द्वारा दिखाई दे सकते हैं। हमारा जगत साईकिल के एक पहिये के समान है जिसके टायर मिल्की वे अर्थात् तारों का वह सफेद सफेद सा झुंड है जिसे स्वर्गपथ कहा जाता है। तारों की संख्या करीब ३० अरब है। हमारा सूर्य भी इन तारों में से एक हैं। इस विशाल जगत के और सौर जगत में इतना ही अन्तर है जितना शायद समुद्र और उसके जलके विन्दु में हो। सौर जगत को ज्योतिष शास्त्र में स्थानिक (Local Star Cloud) तारों ही का एक बादल मात्र के नाम से पुकारा जाता है। इस जगत का केन्द्र हमारे सूर्य से प्रायः तीन संख ब्यासी पदम मील के फासले पर है। यह सारा जगत अपने कक्ष पर घूमता है। कक्ष के समीप के तारे बाहर के तारों से कहीं अधिक तेजी से घूमते हैं। उर्ट साहब का मत यही है।

यह विशाल जगत् एक सूत्र में बँधा हुआ है। हमारे ग्रह, हमारा सूर्य सब जिन पदार्थ के बने हैं उन्हीं पदार्थों के और भी तारे बने हुए हैं। कुछ दिन पूर्व यह माना जाता था कि तारे पृथक् पृथक् द्रव्यों के बने हैं। हरगिन और लोकेमर महाशयों का अनुभव था कि सूर्य में लोहा और चूने की रेखायें मुख्यतया प्रतीत होती हैं और सिरियस तारे में हायड्रजन की रेखाओं का प्राबल्य है। इससे ही उपर्युक्त धारणा का श्रोत था। परन्तु अब इसके नये अर्थ यह लगाये हैं कि सूर्य की गर्मी जो ५७५० डिग्री पर है वह लोहे और चूने को उत्पन्न करने में समर्थ है। चूंकि सिरियस में ११००० डिग्री की गरमी है इसलिये उस में हायड्रोजन ही प्रबलता में दिखाई दे सकता है। सिरियस किसी समय में हमारे सूर्य के समान हो जावेगा। भट्टी की लपटों का रंग अलग-अलग गर्मी होने पर बदलता है। तारे की रोशनी इसकी गरमी का अनुमान होता है। चमकीले सफेद रंग के तारेंहैं

में २५००० डिग्री तक की गर्मी होती है, हलके लाल रंग के तारों में ३००० तक की।

सूर्य की गर्मी कहां से आती है ?

सूर्य की गर्मी का हिसाब बड़ा जटिल है। प्रितियोमीटर से सूर्य की गर्मी नापी जाती है। एबंट महाशय ने पृथ्वी के वातावरण के बाहर सूर्य की गर्मी नाप कर सिद्ध किया है कि एक वर्ग मील पर ४७ लाख होर्स पावर के बराबर गर्मी पड़ती है। सूर्य के धरातल का एक वर्ग सेंटीमीटर पृथ्वी के धरातल का एक वर्ग सेंटीमीटर पर पड़ने वाली उसकी गर्मी की $(214.8)^2$ गुनी गरमी फैंकता होगा। अर्थात् सूर्य के धरातल का एक वर्ग सेंटीमीटर ८ होर्स पावर के एंजिन Engine को चलाने के लिये पर्याप्त गर्मी फैंकता है।

सूर्य एक सेकिंड में ३८००००० भाग गर्मी छोड़ता है।

पृथ्वी की सतह को ठोस हुए प्रायः एक अरब ५० करोड़ बर्ष हुए। इस समय में सूर्य इस समय से कहीं ज्यादा रफ्तार से गर्मी छोड़ता रहा होगा। जब से पृथ्वी का जन्म हुआ है तब से अब तक १.८×१०^{४०} भाग गरमी फैंक चुका है। यदि सूर्य संग्रहीत गर्मी को ही फेंक रहा है तो पृथिवी की उत्पत्ति के समय सूर्य की गरमी एक अरब डिग्री इस समय से उस समय अधिक होगी।

कहा जाता है कि सूर्य की गर्मी यूरेनियम और रेडियम के सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है। यह सम्मिश्रण १ अरब ५० करोड़ बर्ष तक गर्मी दे सकता था। लेकिन रेडियम का विश्लेषण शीघ्र प्रारम्भ होता है और यूरेनियम का बहुत धीरे धीरे। इससे ५० करोड़ तक जो एक सा प्रभाव पृथ्वी पर उसका पड़ता रहना चाहिये जैसा कि जहाँ तहाँ मिले हुए फासिलों से पता चलता है सिद्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सूर्य

की आयु संखों महासंखों वर्षों की मानते हुए हम यह नहीं कह सकते कि सूर्य की गरमी रेडियो यूरेनियम के सम्मिश्रण से मिलती है।

दूसरी धारणा जो सूर्य की उत्पत्ति के विषय में है वह यह है कि यह गर्मी हाइड्रोजन के गुरुतम तत्वों में बदलने से उत्पन्न हुई है। यदि सूर्य प्रारम्भ में हाइड्रोजन का बना हुआ था और बाद में गुरुतम तत्वों में बदला हो तो इस बीच में उसने .००८ अपने पिंड का अर्थात् १.६ × १०३१ ग्राम खोया होगा। पिंड मास में से इतने के खोने पर उसने १.४ × १०५२ भाग गरमी फेंकी होगी। इससे यह ज्ञात हुआ कि वर्तमान गति से गर्मी फेंकते हुए १.१६ × १०११ वर्षों तक के लिये इनसीटीन केला के अनुसार यह पर्याप्त होती है। परन्तु जीन के अनुसार जगत की सृष्टि का जो काल है उससे यह संख्या एक विस्वा कम है। अतः यह भी सूर्य की गरमी का कारण नहीं माना जाता।

तीसरा श्रोत जो सूर्य की गरमी का बताया जाता है वह प्राकृतिक द्रव्य का विनाश है एक सेकंड में सूर्य ३.८ × १०३३ भाग गरमी अर्थात ४.२ × १०१२ ग्राम फेंकता है। यह ४० लाख टन के बराबर हुआ। हम कह सकते हैं कि यह छपा प्रोटोन और इलैक्ट्रोन के साथ साथ प्रकट होने और एक दूसरे का विनाश कर देने से होती है। यह मत जीन ने सर्व प्रथम प्रतिपादित किया था वर्तमान गति से १५ नील वर्षों तक के लिये सूर्य गर्मी प्रदान कर सकेगा। इस प्रस्ताव को मानने से दो बातें सम्भव हो जाती है।

(i) जो पुराने तारे हैं हल के तत्वों में बने रह जाने चाहिये क्योंकि भारी तत्व सब जगत के केन्द्र की ओर आकर्षित हो जावेंगे।

(ii) पुराने तारे अपने पिंड का बहुत बड़ा हिस्सा प्रकाश-रूप में फेंक चुके होंगे। नये तारे पुरानों से पिंड मास में कहीं ज्यादा होंगे।

इस जगत में प्रायः सभी तारे एक ओर को घूमने की चेष्टा करते हैं। साइकिल के पहिये के आकार का जगत अपने कक्ष के चारों ओर घूमता है। परन्तु इसके घूमने की गति सदा एक सी नहीं रहती अर्थात् किसी तारा समूह की गति में जगत के केन्द्र की दूरी के अनुसार अन्तर रहता है। इस जगत का केन्द्र सेजिटारियुस, ओफियुक्स और स्कोरपियो के समीप है। इस जगत का रेडियस ५×१०२२ मील है।

अब देखना है कि इस विशाल जगत का आदि स्रोत क्या है। जर्मनदार्शनिक काण्ट का मत है कि प्रारम्भ में इस जगत से पूर्व आकाश में प्राकृतिक द्रव्य सम्यावस्था में फैला हुआ था। जैसे जैसे यह पृथक पृथक समूहों में बँटता गया और समय के बीतने के साथ साथ इसमें कोणिक गति आती गई। लासेस महाशय ने इस धारणा में इतना परिवर्तन किया कि कोणिक गति सदैव एक सी रहती है और जैसे जैसे कोई समूह सुकड़ता गया उसकी तीव्र होती गई। न्यूटन महाशय जो इन दोनों में पहले हुए थे कह गये हैं कि यदि सीमित आकाश में प्राकृतिक द्रव्य के अणु बिखरे हुए थे और एक दूसरे को आकर्षित करते हैं तो अनिर्मित जगत के बाहर के अणु केन्द्र की ओर आकर्षित हो गये होंगे और उन्होंने एक बड़ा अण्डाकार जगत बनाया होगा। परन्तु यदि वह आकाश जिसमें वह अणु बिखरे हुए थे असीमित था तो उसका केन्द्र न होने के कारण वह अणुराशि पृथक पृथक समूहों में एकत्रित हो गई होगी। यहाँ तक कि उसमें अगणित समूह बन गये होंगे जिनकी एक दूसरे से दूरी भी बहुत होगी और असीमित आकाश में फैले

हुए होंगे। और इसी प्रकार अनेकों सूर्य बन गये होंगे इन्हीं सूर्यों से फिर अनेक सोर जगत बन गये होंगे। ईन्सटीन महाशय की धारणा यदि इसमें सम्मिलित करदी जावे तो यह मत जरा पुष्ट हो जाता है। इनकी धारणा है कि आकाश सीमित है। इस धारणा को मानकर हम जगत का केन्द्र फैलाव दूरी आदि नाप सकते हैं। इस प्रकार आज कलकी साइंस में इस विशाल जगत की उत्पत्ति के विषय निम्नलिखित सिद्धान्त माना जाता है।

प्रारम्भ में प्राकृतिक द्रव्य समावस्था में सीमित आकाश के अन्दर फैला हुआ था। आकर्षण के नियमों के अनुसार यह किसी विशेष स्थित अवस्था में नहीं रह सकता। अतः उसमें से लहरें उठती होंगी। इसमें शनैः शनैः यह पृथक् पृथक् समहों में बंट गया होगा। यह समूह तारों के रूप में नहीं अपितु नेबूली के रूप में होंगे। इन नेबूली में अनेकों सूर्य थे और इन सूर्यों में से शनैः शनैः गृह पृथक हुए होंगे। एनड्रोमीडा नेबूला के केन्द्र में जो समूह सा दीखता है उसीमें २७ करोड़ सूर्य हैं।) ऊर्ट oort महाशय के मतानुसार एक नेबूला में औसतन एक लाख सूर्य होते हैं। किसी समूह के प्रारम्भिक द्रव्य में जो लहरें प्रभावित हुई थी उनसे उस समूह में कोणिक गति उत्पन्न हुई होगी। जैसे जैसे यह समूह सुकड़ते गये उनकी कक्ष पर घूमने की गति भी बढ़ती गई।

जगत की सृष्टि का विषय को जिस प्रकार विज्ञान ने हल करने का प्रयत्न किया है। उसी प्रकार धर्म भी इस विषय पर विचार करता रहा है। प्रत्येक धर्म में उसके प्रवर्त्तक ने इस विषय पर कुछ न कुछ अवश्य कहा है।

वैदिक धर्म की सम्मति

आर्य जन्त्री के अनुसार जो सूर्य सिद्धान्त पर आश्रितहै जगत की उत्पत्ति से लेकर अब तक १६६०८५३०१० वर्ष व्यतीत हो

चुके हैं। सूर्य की गति के अनुसार दिन महीने वर्ष आदि समय के बिभाग किये गये हैं। आर्य चार युग मानते हैं सतयुग १७२८००० वर्ष का है त्रेतायुग १२९६००० वर्ष का द्वापर युग ८६४००० वर्ष और कल युग ४३२००० वर्ष का होता है। चारो युग मिलकर ४३२०००० वर्ष का होता है। इसे एक चतुर्युगी कहते हैं। इस प्रकार की ७१ चतुर्युगी का मन्वान्तर होता है। जगत की सृष्टि से लेकर प्रलय तक १४ मन्वान्तर होते हैं। ६ मन्वान्तर निकल चुके हैं और ८ और निकलने को हैं। १००० चतुर्युगों का अथवा ४३२०००००००० वर्षों का ब्रह्म दिन होता है। ब्रह्म को जगत के बनाने में एक ब्रह्म दिन और नाश करने में एक ब्रह्म रात्रि का समय लगता है। इसी प्रकार के अन गिनती ब्रह्म दिन और ब्रह्म रात्रियाँ निकल चुकी हैं यह जगत क्रम से अनादि है। बनता है बिगड़ता है; बिगड़ता और बनता है।

